प्रश्न-उत्तर

पुस्तक के इस भाग में जीवन विद्या के जिज्ञासुओं के मन में उठने वाले प्रश्नों में से कुछ महत्वपूर्ण प्रश्नों का चयन कर श्रद्धेय बाबा जी से उन प्रश्नों के समाधान चाहे गए । बाबाजी के द्वारा प्रस्तुत समाधान यहां पर दिए गए हैं ।

प्रश्न : 1 क्या भौतिक वस्तुओं की कीमत (मूल्य) नहीं है ?

उत्तर - भौतिक वस्तुओं का मूल्य निश्चित है सौ साल पहले जो एक किलो गेहूँ का मूल्य था वह आज भी वही है । जब इसमें हमने हस्तक्षेप किया तो मूल्य को कम ही किया (जैसे रासायनिक खाद डाला) । रासायनिक खाद के उपयोग से आदमी आलसी भी हो गया और गोबर खाद बनाना बंद कर दिया और सभी जानवरों को मारकर खा गया । यह बताते हैं कि जानवरों को मारकर विदेश भेजकर हम पैसा कमाते हैं । यह कहाँ तक सच्चाई होगी, कहाँ तक व्यवहारिक होगा, कहाँ तक आदमी के शुभ के अर्थ में होगा, कौन उत्तर देगा ? समृद्धि के लिए भौतिक वस्तुओं का मूल्य आवश्यक है यह मानव के श्रम नियोजन का फलन है । भौतिक वस्तुओं का उपयोग तीन जगह होता है शरीर पोषण, संरक्षण एवं समाज गति के लिए । सम्पूर्ण वस्तुओं का उपयोग करना है इसके बिना मानव को सम्पूर्ण सुख मिल भी नहीं सकता ।

प्रश्न : 2 मानव धर्म का मत क्या है ?

उत्तर - हम जितना भी व्यवस्था में जीता हूँ, आज जितना खूबी से जीता हूँ कल उससे अधिक जी सकता हूँ उत्तरोत्तर और अधिक सुखपूर्वक जीना ही 'धर्म' है। समस्याओं के साथ सुखी होना बनता नहीं, समझदारी समाधान के आधार पर सुखी होना बनता है । भौतिक वस्तुओं के आधार पर समाधान उपजाएं और फिर सुखी हो ऐसा बनता नहीं । समाधान, समझदारी हमारी बुद्धि में निहित है ही । समझदारी के आधार पर भौतिक वस्तुओं को उपजाना बनता है ।

हम समाधानित हों हमारे पास कोई भौतिक वस्तु न रहे ऐसा हो नहीं सकता । समाधान के साथ भौतिक वस्तु भी अपनी तादाद के साथ समाहित रहती है । इस संतुलित विधि से हम सुखी होने का मार्ग प्रशस्त करते हैं । इन्हीं आवश्यकता को धार्मिक आवश्यकता कहते हैं । अभी तक कोई भी संप्रदायगत रूढ़ियाँ न तो सार्वभौम हुई और न आगे होगा । सार्वभौम होना एक ही बात का होगा कि मानव का व्यवस्था में जीना, सर्वशुभ, सुख । मानव का व्यवस्था में जीना और समग्र व्यवस्था में भागीदार होना हमको समझ में आता है । हमसे किसी को परेशानी होती नहीं है । इस प्रकार से हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि मानव धर्म व्यवस्था के रूप में जीना ही है । व्यवस्था के रूप में जीने के फलस्वरूप हम निरंतर समाधानित रहते हैं और निरंतर सुखी रहते हैं । जीवन ही सुखी होता है तो व्यवहार में समाधान प्रमाणित हो जाता है । व्यवहार में प्रमाणित होने के कारण ही यह स्वीकार पाते हैं कि मनुष्य सुखी है ।

मानव स्वभाविक रूप में चाहे काले हों, गोरे हों, बली हों, निर्बली हों, धनी हों, गरीब हों, सभी लोग सुखी होना चाहते हैं इसमें कोई दो मत नहीं है । सुखी होने की प्रक्रिया के बारे में बताया गया अभी तक इन्द्रिय संवेदना में सुख खोजने की बात आदि काल से हुआ किन्तु उससे संभव नहीं हुआ । फलस्वरूप समझदारी के आधार पर सुखी होने की बात अभी स्पष्ट हुई है । मानव स्वयं को और अस्तित्व को समझ ले यही समझदारी है ।

अस्तित्व एक शाश्वत सत्य है, न घटता है, न बढ़ता है, इसका क्या प्रमाण है? अभी हमारे सामने जितना भी है वर्तमान है । वर्तमान कभी समाप्त होता नहीं वर्तमान निरंतर बना ही रहता है । इस धरती पर चारों अवस्था रहे या एक अवस्था । न्यूनतम एक अवस्था बना ही रहता है । भौतिक वस्तुएं निरंतर बनी ही रहती है इनका कभी नाश नहीं होता । भौतिक वस्तु ही रासायनिक वस्तु में प्रकाशित होते हैं जिसे रासायनिक उर्मि कहते हैं । दो तरह के वस्तु मिलकर अपना अपना आचरण त्यागकर तीसरे तरह का आचरण बनाना यह रासायनिक उर्मि है । रासायनिक उर्मिवश ही तमाम प्रकार की प्राणावस्था की वस्तुएं निर्मित हुई हैं । रासायनिक वस्तु से प्राण कोशा, प्राण सूत्र, रचना विधि तीनों अपने आप में संपन्न होती है । इसमें संसार के किसी इंजीनियर, डाक्टर, बुद्धिमान आदमी का योगदान नहीं है । इससे पता लगता है कि अस्तित्व में विकासक्रम की सीढ़ियाँ लगी ही हुई है । मानव भी विकासक्रम में एक सीढ़ी है । ये हम, आपको समझ में आता है । यदि मानव अपने ही क्रमानुसार, क्रियानुसार, विचारानुसार व्यवस्था में जी नहीं पाता है तो मानव के जीने के अनुकूल यह धरती रह नहीं जायेगी तो मानव समाप्त हो जायेगा । किन्तु बाकी यथावत बनी रहेगी भौतिक रासायनिक वस्तुएं वैसी ही रहेगी मानव जाति विदा हो जायेगी । अस्तित्व में कोई हानि लाभ होता नहीं । अर्थात् अस्तित्व न घटता है न बढ़ता है । अस्तित्व में चारों अवस्थाएं निरंतर बना ही रहता है यह अस्तित्व सहज क्रिया है । चारों अवस्थाएं इस धरती पर नहीं होगा तो अन्य धरती पर होगा । अगर मानव इस धरती को मानव के न रहने लायक बनाने को ही विकास समझता है तो इससे अच्छा अक्ल का पत्थर क्या हो सकता है । अधिकतर लोग इस प्रकार के अड़चन पैदा करने वाले मनुष्य, देश, समुदाय को

विकसित मानते हैं । इसमें भी सोचने का मुद्दा है । जहाँ हम पहुँचे हैं यह बात तो उजागर हो गयी कि अपने ही करतूतों से हम फंस चुके हैं। फंसने के बाद छूटने की आवश्यकता है। इसका प्रस्ताव आपके सम्मुख आ चुका है। इस पर विचार करने की आवश्यकता है। आपकी सौजन्यता इसका आधार है। मनुष्य स्वयंस्फूर्त विधि से शुभ, अशुभ प्रवृत्तियों में दौड़ता है । शुभ प्रवृत्ति की ओर रास्ता न होने से अशुभ प्रवृत्ति की ओर दौड़ता है। शुभ की ओर दौड़ने का प्रस्ताव है उसे जांचने की जरूरत है।

पहला - मानवीय चरित्र एक ही होता है चाहे आदमी कैसा भी हो। मानवीय चरित्र का स्वरूप-स्वधन, स्वनारी/स्वपुरूष, दयापूर्ण कार्य व्यवहार के रूप में होता है।

दूसरा - मूल्य बहते हैं संबंधों की पहचान से । संबंधों की पहचान, मूल्यांकन, उभयतृप्ति ये मिलने पर मूल्यों का निर्वाह हुआ ऐसा हम समझा हूँ ।

तीसरा - तीसरी विधि में हम नैतिक तभी होते हैं जब अपने तन, मन, धन रूपी अर्थ का सदुपयोग करते करते हैं, सुरक्षा करते हैं।

इस ढंग से नैतिक मानव, मूल्य मानव, चरित्र मानव यह तीनों मिलकर मानवीय आचरण बनता है । व्यवस्था में जीने के लिए यही तीनों आधार है । यही सूत्र है, परिवार में, समाज में, व्यवस्था में, व्यवसाय में, प्रकृति में सब जगह इस आचरण को व्याख्यायित करने पर, लागू करने पर मानवीय संविधान हमें करतलगत हुई । मानवीय आचरण ही है जो राष्ट्रीय चरित्र के रूप में वैभवित हो सकता है । विगत में धार्मिक राजनीति, आर्थिक राजनीति के बारे में हम सोच चुके हैं वह भी पराभवित हो चुकी। अपने को कहीं न कहीं विकल्प को खोजना ही पड़ेगा । इसका प्रस्ताव यही है कि राष्ट्रीय चरित्र का आधार बिन्दु मानवीयता पूर्ण आचरण ही होगा । इसको समझने में मनुष्य को किसी भी देश काल में कोई परेशानी नहीं होगी । मानवीयता पूर्ण आचरण के सुख को एक बार आस्वादन करने की जरूरत है । इस प्रकार मानवीयतापूर्ण आचरण, मानवीय आचार संहिता रूपी संविधान की हम व्याख्या देते हैं, वही समाजशास्त्र के रूप में हमें प्राप्त हो जाता है । शिक्षा में मानवीयता पूर्ण समाज शास्त्र को लाने की जरूरत है। मानव कैसे समझदार होगा, मानवीयतापूर्ण मानव क्या वैभव है। मानवीयता पूर्ण मानव परिवार में, समाज में, व्यवस्था में कैसे जीता है यह पूरा समाजशास्त्र है इसको अलग से अध्ययन करने की जरूरत है। मनुष्य बहुत अच्छे ढंग से वर्तमान में विश्वास रखते हुए जी पाता है। अस्तित्व न घटता है न बढ़ता है इस रूप में परम सत्य के रूप में अस्तित्व को पहचान सकते हैं। सत्ता में संपृक्त प्रकृति ही

अस्तित्व है।

वर्तमान कभी भी नष्ट होने वाला नहीं है। हम अपनी बुद्धि से वर्तमान से असंतुष्ट है क्योंकि व्यवस्था में जी नहीं पाते फलस्वरूप विगत में जाते हैं जिससे कुंठित हो जाते हैं पीड़ित होते हैं। भविष्य में जाते है कुंठित होते हैं, पीड़ित होते हैं। अस्तित्व में अव्यवस्था नाम की कोई चीज नहीं है। अस्तित्व संपूर्ण व्यवस्था ही है। मानव जब कोई भी वस्तु बनाता है तो वह बिगड़ता ही है। जैसे यंत्र बनाता है तो बिगड़ता ही है घर बनाता है खराब होता ही है। पर वस्तु का नाश नहीं होता है। इसलिए घर बिगड़ा पुनः बना लिया। हमारे पास श्रम नियोजन के लिए वस्तु है ही। जीवन में अक्षय बल है ही, हमारी अक्षय शक्तियों को शरीर के पोषण संरक्षण और समाजगति के लिए हम नियोजित कर लेते हैं इसे हम कहते हैं समृद्धि। हमारी आवश्यकता दिन में एक बार टेलीफोन करने की है। फोन चौबीस घंटे चालू रहता ही है यही समृद्धि है। हमें दिन में एक बार कहीं जाना है। घर में सायकल दिन भर रखा ही है इसे समृद्धि नहीं तो क्या कहेंगे । खाना एक क्विंटल अनाज है 20 क्विंटल अनाज पैदा कर लेते हैं यही तो समृद्धि है। इन उदाहरणों से पता चलता है कि साधन अधिक है, आवश्यकता कम है। हम सभी आयामों में समृद्धि को अनुभव कर सकते हैं समृद्धि को अनुभव करना एक आवश्यकता है। भौतिक संसार का कोई उपयोग है तो केवल मानव समृद्धि का अनुभव करें । समृद्धि का अनुभव करने का एक ही तरीका है । हम परिवार की आवश्यकता से अधिक उत्पादन कर लें। समृद्धि के साथ व्यवस्था में जीने से समाधान की निरंतरता रहती है। समझदारी के उपरांत समाधान के बाद समझदारी नित्य हममें बना ही रहता है। इसके लिए कहीं दौड़ना नहीं पड़ता। यही सुस्वादन का आधार है। जब भी समस्या ध्यान में आता है सुस्वादन करते बनता नहीं। इस प्रकार **समाधान के आधार पर समझदारी, श्रम के नियोजन के आधार पर समृद्धि तथा सह-अस्तित्व के साथ व्यवस्था में जीने से अभय का अनुभव होता है । इस प्रकार मैंने देखा है, समझा है, जिया है और आपको समझाने में समर्थ हूँ ।**

न्याय = अखण्ड समाज सार्वभौम व्यवस्था में जीने योग्य हो जाते हैं। सत्य = प्रमाणिक होने योग्य हो जाते हैं।

प्रमाणिक होने का मतलब है हम जो समझे हैं उसे दूसरों को भी समझा सकते हैं। समझदारी के लिए एक मात्र सूत्र है व्यवस्था को समझना है, न्याय को समझना है और मानव को समझना ही है । इस समझने की विधि में मैं सफल व्यक्तियों में से हूँ । अनुभव के फलस्वरूप प्रमाणिकता आती है। अनुभव क्या है ? हम माने रहते हैं जानते नहीं तो तृप्ति मिलती नहीं है। जाने रहते हैं मानते नहीं है तो भी तृप्ति मिलती नहीं है।

जानने, मानने की तृप्ति मिलने पर पहचानने, निर्वाह करने में तृप्ति मिलती है। अभी तक हम पहचानने, निर्वाह करने का क्रम किया, हमें तृप्ति मिला नहीं, क्योंकि जाने माने नहीं रहा। तृप्ति बिन्दु कैसे पहचानेगा ? चिंतन के आधार पर जो बोध हो जाता है उसके साथ साक्षात्कार किया अपने में निरंतर चलना शुरू करते हैं तो उसका तृप्ति बिन्दु मिल ही जाती है और प्रमाणिकता के साथ तृप्ति बिन्दु मिलता ही है तो प्रमाणिकता स्वयं में प्रमाण है। इस प्रकार अनुभव को संप्रेषित करने में समर्थ हो पाते हैं। फलस्वरूप अनुभव को मानव परंपरा में संप्रेषित, अभिव्यक्त कर अपने में तृप्ति पाते हैं यही हमारा धन है। जब हम अपने अनुभव को आपको संप्रेषित किया तो हम तृप्त हुआ यही हमारा धन है। यदि आप समझ गये तो यह और भी उत्सव की बात है और आप नहीं समझे तो हमारा तृप्ति हमारे पास रखा ही है। अनुभव को हम नित्य संप्रेषित कर सकते हैं। अभी तक के आदर्शवादी विचार के अनुसार अनुभव को हम बता नहीं सकते। जीवन को पहचानने के आधार पर यह समझे कि जीवन में अनुभव एक अनुस्युत क्रिया है। अनुभव को प्रमाणित करना मानव परंपरा में ही संभव है, जिसमें किसी भौतिक द्रव्य की आवश्यकता नहीं है, केवल समझदारी की आवश्यकता है। जानने मानने की क्रिया जीवनगत है। संवेदना के आधार पर नहीं है इसलिए इसमें भौतिक द्रव्यों की जरूरत नहीं है पहचानने निर्वाह करने की बात आती है व्यवस्था में जीने के जगह में। पहचानने, निर्वाह करने के क्रम में हम मानव के साथ होते हैं। अनुभव में मन का कोई नियोजन नहीं होता। सीधे-सीधे मन का उत्सव होता है। मन अनुभव से उत्सवित होकर संसार को बता देता है। तो उत्सवित रहने के लिए आत्मा ही मूल तत्व है। आत्मा की महिमा ही मुग्ध होने और उत्सव होने की वस्तु रहती है। अनुभव की वस्तु रहती है। फलस्वरूप मन मानव को अर्पित कर देता है। इतना ज्यादा उत्सवित रहता है अतः अर्पित करना ही होता है। हम लोग भी जब बहुत वस्तु प्राप्त कर लेते हैं तो इसको अर्पित करते ही हैं। इसी प्रकार अनुभव इतनी बड़ी संपदा है जिसे मन समा ले, संभलता नहीं है। फलस्वरूप अनुभव को व्यक्त करना शुरू करता है।

ऐसा मैंने देखा है, समझा है, अनुभव किया है। जबकि विगत में बुजुर्ग कहते रहे हैं कि अनुभव को बताया नहीं जा सकता। इसमें किस चीज को माना जाए इसका अध्ययन करना पड़ेगा। मानव की इच्छा से अनुभव को बताया जा सकता है। प्रकाशित किया जा सकता है यही निष्पन्न होता है। घटना के रूप में सम्मुख है।

अनुभव के पश्चात आता है अनुभवों को प्रमाणों के रूप में प्रस्तुत करना। अभी तक प्रमाण के रूप में प्रस्तुत हुआ है यंत्र प्रमाण और पुस्तक प्रमाण। सत्य को प्रमाणित कर चुके ऐसा प्रमाण अभी तक हुआ नहीं। यंत्र प्रमाण परिवर्तनशील है यही

सच्चाई है। वैज्ञानिक स्वयं कहते हैं कि यह अंतिम सत्य होगा जरूरी नहीं है। तो **अंतिम सत्य, पहला सत्य, मध्य का सत्य, समीप का सत्य, दूर का सत्य इसे कैसे समझा जाए यह बड़ी भारी दुविधा हो गयी। सत्य होता है असत्य होता है। असत्य का मतलब मानव भ्रम में रहता है। असत्य नाम की कोई वस्तु अस्तित्व में बनी ही नहीं। हमारी नासमझी को, भ्रम को, असत्य कह सकते हैं। सत्य का अस्तित्व ही सर्वस्व है सत्य न कभी घटता है न बढ़ता है।** पहला सत्य, अंतिम सत्य ऐसा कुछ होता नहीं। केवल निरंतर सत्य ही होता है। या सत्य को हम समझे नहीं रहते यही स्थिति मानव के साथ बनी रहती है। समझदारी के साथ ही सत्य समझ में आता है। सह-अस्तित्व को समझना ही परम सत्य है।

अस्तित्व समझ में आने का फल ही है कि अस्तित्व स्वयं व्यवस्था में है। जब अस्तित्व स्वयं व्यवस्था के रूप में है तो मनुष्य व्यवस्था के रूप में होने के लिए प्रवर्तनशील होना स्वाभाविक है। तब हमें पता लगा मानव धर्म एक ही है व्यवस्था में जीना। मानव धर्म की सार्थकता व्यवस्था में जीना ही है। वर्तमान में विश्वास करना ही, सुखी होना है। किन्तु सुखी होने का जो उपाय भक्ति-विरक्ति में बताया, उसका प्रमाण बनता नहीं है। विरक्ति की अवस्था में साधना के अंत में समाधि अवस्था बनती है। समाधि में हम सुखी हैं कि दुखी हैं ऐसा कहना बनता नहीं है। सत्यापित कर नहीं सकते इसलिए कहते हैं सुख दुख से परे। आप भी अगर समाधि अवस्था को प्राप्त करेंगे तो आप भी यही देखेंगे। समाधि विचार मुक्त अवस्था हैं। इसको मैंने स्वयं देखा है। समाधि की घटना संभावित घटना है। निश्चित घटना नहीं है। किसको कब समाधि होगा यह कोई नहीं बता सकता। कैसे होगा यह भी निश्चयपूर्वक नहीं बताया जा सकता क्योंकि इसके लिए कई विधियाँ है, साधना विधि, आगंतुक विधि, योग विधि, ध्यान विधि, पूजा विधि, जप विधि।

व्यवस्था में जीना शुरू करते हैं तो हमारी भागीदारी व्यवस्था में होती है। शिक्षा संस्कार में भागीदारी करते हैं तो निरंतर उपकार विधि से हम शिक्षा संस्कार संपन्न कर पाते हैं। शिक्षा संस्कार उपकार विधि से ही सार्थक होता है प्रतिफल विधि से सार्थक होता नहीं। प्रतिफल विधि से शिक्षा संस्कार देकर हम सत्य बोध, यथार्थता का बोध नहीं करा पाते हैं।

मैं इस विधि से शिक्षा संस्कार संपन्न करता हूँ। प्रतिफल (भौतिक वस्तु) मिलने का कभी मन में खाका आया ही नहीं। समझदारी को समझाने के लिए भौतिक द्रव्य की आवश्यकता नहीं है। शिक्षा कार्यक्रम में जो अध्यापक है वह अपने में स्वायत्त रहने, स्वालम्बी रहने की आवश्यकता है। समझदारी से यह आता है कि जो मानव

स्वायत्त रहेगा उसका स्वावलंबी रहना स्वाभाविक है तो आवश्यकीय वस्तुओं को निर्मित करेगा, समर्थ रहेगा, उपकार करेगा ही। हर मनुष्य में सहयोग, उपकार प्रवृत्ति रहती है। इसका सर्वेक्षण कर सकते हैं यही उपकारवादी विधि की उपज स्थली है । स्वाभाविक रूप में बचपन की सहयोगी प्रवृत्ति को सुदृढ़ करते जायें तो प्रौढ़ावस्था में वह उपकारी हो ही जाता है । इतना ही हमको करना है शिक्षा में ये स्रोत को सार्थक बनाने की आवश्यकता एवं प्रावधान चाहिए जिसे मानवीय शिक्षा ही सार्थक बनायेगा । यांत्रिक शिक्षा एवं व्यवसायी शिक्षा इसे सार्थक बनायेगा नहीं । इस ओर ध्यानाकर्षण होने पर संभव है व्यवहार और व्यवस्था शिक्षा की ओर, प्रमाण शिक्षा की ओर आपकी प्रवृत्ति हो जाए । प्रमाण का आधार मनुष्य को होना है । यांत्रिक शिक्षा से, व्यवसायी शिक्षा से मानव सामाजिक होना तो बनेगा नहीं । इससे मानव के साथ अनाचार अत्याचार हो न हो किन्तु धरती के साथ अनाचार अत्याचार अवश्यंभावी है । यांत्रिक और व्यवसायी शिक्षा से यह धरती बर्बाद हुई है । अतः इसके विकल्प में मानवीय शिक्षा, व्यवहार शिक्षा, समाधान संपन्न शिक्षा, प्रमाण शिक्षा चाहिए । ऐसी शिक्षा के लिए मानवीयतापूर्ण आचरण को मध्य में रखा जाये । मानवीयता पूर्ण आचरण को संरक्षित करने के लिए मानव को समझदार बनाने के लिए संपूर्ण वांङ्मय तैयार किया जाये ।

हमने देखा है मनुष्य आवेशात्मक और उत्तेजनात्मक कार्यों को तत्काल कर देता है। जहाँ कहीं भी समाधान, विवेक, प्रयोजनशील कार्य हैं उसे दस बार सोचता है तब करता है। बचपन में ऐसी प्रवृत्ति नहीं होती । बचपन के बाद जैसे-जैसे प्रौढ़ होता है वैसे-वैसे अपने में सहयोगवादी प्रवृत्ति पर शंका होने लगती है और प्राथमिकता क्रम में वह प्रवृत्ति नीचे आती जाती है । फलस्वरूप देर हो जाती है और जो समीचीन परिस्थिति थी वह बदल जाती है। बदले जाने पर और भी शंका होने लगती है और इस प्रकार सही बात हो ही नहीं सकता इस जगह पर आकर बैठ गया है आदमी । हम सही कर ही नहीं सकते यह निर्णय कर बैठ गया है मानव । दूसरी ओर मनुष्य व्यवस्था को चाहता है । व्यवस्था कैसे सर्वसुलभ हो सकता है लोक व्यापीकृत हो सकता है ? इसके लिए यह प्रस्ताव है। मनुष्य को इसके लिए समझदार होना ही पड़ेगा । मनुष्य अपने में मानवीयतापूर्ण आचरण को हर आयाम, कोण, दिशा, परिप्रेक्ष्यों में प्रमाणित करना ही व्यवस्था है इससे समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व फलवती होता है । इन्हीं फलों के लिए मानव चिरकाल से त्रस्त है, प्रतीक्षित है।

अभी मानव ने अपनी आवश्यकता को उपयोगी माना है दूसरे की आवश्यकता

को उपयोगी नहीं माना । तभी तो एक आदमी दूसरे आदमी का, एक परिवार दूसरे परिवार का, एक समुदाय दूसरे समुदाय का, एक देश दूसरे देश का शोषण करता है। इन गवाहियों के आधार पर समझ में आता है कि मानव धर्म को, मानवीयतापूर्ण आचरण को हमें तुरंत समझने पहचानने की आवश्यकता है और इसी शरीर यात्रा में चरितार्थ करने के लिए निष्ठा, साहसिकता जुटाना पड़ेगा । इसे संकल्प कहते हैं जो प्रमाणित होने के लिए निष्ठा जोड़ लेता है । व्यवस्था में जीने की निष्ठा प्रमाणिकता को अभिव्यक्त संप्रेषित करने के लिए निष्ठा । तीसरे जगह में निरंतर न्याय प्रदायी क्षमता को नियोजित करते रहेंगे, न्यायपूर्वक जीते रहेंगे, न्याय के लिए जियेंगे इसकी निष्ठा। इस ढंग से न्याय, धर्म, सत्य के लिए निष्ठा होगी और कहीं तो निष्ठा होते हमने देखा नहीं । पूजा, पाठ, ध्यान में निष्ठा ये सब जिस आवश्यकता के लिए हम करते हैं उसी को बुलंद करता है । उसी को वह वृहद बना देता है । इसके बाद है तीव्र जिज्ञासा । कहा गया है कि सर्वमोक्ष के लिए भी यही सब किया जाता है । इसी को अनादि काल से शुभ कार्य मानते आये हैं । लोक प्रचलन में इसे स्वीकृति दी है, सम्मान दिया है, इससे बहुत लोगों को राहत भी मिलती है । तात्कालिक राहत मिलने मात्र से हम व्यवस्था में जी गये ऐसा होता नहीं ।

पूजा, पाठ, ध्यान आदि चीजों पर मुझे अविश्वास है ऐसी बात नहीं है किन्तु उसकी एक सीमा है वहाँ तक ही वह प्रभावशाली है और उसके आगे मोक्ष की जो कामना होती है अंतिम मंजिल समाधि है जिसमें न पाने की बात रहती है न खोने की। इस तरह हम निष्कर्ष पर आये कि भक्ति विधि से, विरक्ति विधि से, संग्रह विधि से कोई व्यवस्था उपजती नहीं है । तो मनुष्य कैसे जीये ? समाधान , समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व पूर्वक जिया जाये यही मानवीयतापूर्ण जीने की कला का स्वरूप बनता है। इसमें मैं जीकर देखा हूँ यह सार्थक है आप भी जी सकते हैं। हम इस बात पर पहुँच गये कि हर व्यक्ति को इसे जीकर प्रमाणित करना है । सार्थकता सबको स्वीकार है सबको वरेण्य है । तो मानवीयतापूर्ण आचरण मानव जाति के लिए सार्थक है । अस्तित्व में हर एक इकाई व्यवस्था में रहना चाहती है यही उसका धर्म है । मानव भी व्यवस्था में जीना चाहता है । इस आधार पर मानवत्व उसे स्वीकार है । इसको प्रमाणित करना ही हमारा जागृति का प्रमाण है । मानवीयता पूर्ण आचरण को जब मैं प्रमाणित किया तब हमें बोध हुआ कि मानवत्व ही हमारा स्वत्व है । वैभव है और उसकी खुशहाली निरंतर बहने लगी । मैं समझता हूँ कि पूरी मानव जाति भी मानवत्व के लिए तृषित है । मानवत्व मानव का स्वत्व है उसे छोड़कर कहीं भाग नहीं पायेगा आज नहीं तो कल उस जगह पर आना ही पड़ेगा ।

मानव परंपरा के लिए हर मानव में इतनी बड़ी संपदा समाहित ही है, संभावना समाहित ही है। प्रमाण हर आदमी की इच्छा, आवश्यकता और उत्सव के आधार पर है। यदि एक व्यक्ति में ही यह गुण आता व्यवस्था का और अन्य व्यक्ति में यांत्रिकता की तरह चलता रहता तो सबमें सुखी होने की इच्छा आवश्यकता नहीं बनती।

कोई न कोई गद्दी पर बैठा रहा है उसे भी सुख, स्वराज्य और स्वतंत्रता नहीं मिला। गद्दी की ओर ताकने वालों को, देखने वालों को भी सुख स्वराज्य नहीं मिला। इस विधि से पता लगता है कि अभी तक हम सभी खाली हाथ हैं। इस रिक्तता को पाटने के लिए हर मानव में निहित मानवत्व ही है। मानव जागृत होने के लिए मानवीय शिक्षा ही विकल्प है। इसका प्रयास हमने किया है, खुशहाली के लिए किया है। किसी का उपकार करने के लिए, एहसान लादने के लिए नहीं किया। हम बोधपूर्वक यानि अनुभव का बोध होने के आधार पर (अनुभव प्रमाणिकता है - प्रमाणिकता का बोध बुद्धि में होता है) बुद्धि का प्रवर्त्तन होता है। उसी का नाम संकल्प है। संकल्प के आधार पर हम अभिव्यक्ति, संप्रेषित होने की इच्छा होती है। प्रमाणित करने की प्रवृत्ति होती है। हम प्रमाणित कर देखा यह सबके लिए जरूरी है। ऐसा जानते हुए आगे का कार्यक्रम प्रस्तुत करना शुरू किया।

पहले प्रयास में जीवन विद्या योजना रही जिसमें चिंतन से प्रारंभ कर संकल्प तक जीवन क्रियाओं को स्पष्ट किया। जिसको संकल्प हुआ; उसके अनुसार जीने की कला के लिए स्वभाविक रूप से चित्रण होता है। अब से पहले संवेदनाओं के आधार पर जीने के लिए चित्रण होता रहा है। अब उसके स्थान पर प्रमाणिकता पूर्वक जीने की कला के लिए चित्रण होना प्रारंभ होता है। इसका स्वरूप है उपकार विधि। उपकार विधि से जब हम अपनी सामान्य आकांक्षाओं महत्वाकांक्षाओं को चित्रित करते हैं तो उस समय यही निकलता है कि हम स्वयं स्वायत्त रूप में समाधान समृद्धि को प्रमाणित किये रहते हैं तभी हम उपकार करने योग्य होते हैं ऐसी योग्यता को हम कहीं छुपा नहीं पाते हैं। वह स्वाभाविक रूप से उपकार के लिए नियोजित होती है। इस उपकार विधि से हमारी सामान्य आकांक्षाएं, महत्वाकांक्षाएं सीमित हो जाती है। इस सूत्र में आवर्तनशील अर्थशास्त्र स्वयं समाहित ही है, समीचीन है। मनुष्य उसे समझ सकता है, जागृति के बाद समझ में आता ही है। इस ढंग से आवर्तनशील अर्थ व्यवस्था के साथ (अर्थ = तन, मन, धन) हम धार्मिकता (धर्मनीति) में (व्यवहार, उत्पादन, व्यवस्था) नियोजित हो जाते हैं। शिक्षा में नियोजित करते ही हैं। इस ढंग से मनुष्य को सभी ओर नियोजित होने का अवसर बना ही रहता है और उन अवसरों को नियोजित करने की विधि स्वयंस्फूर्त आती है।

वर्तमान परंपरा में पढ़ने लिखने के बाद धीरे-धीरे मनुष्य उत्पादन से विमुख होने लगता है और अधिक से अधिक सुविधा संग्रहण के लिए तृषित रहता है। जबकि जागृति पूर्वक व्यवस्था में मानवीयतापूर्ण विधि से चित्रण करते हैं तो हमारी सामान्य आकांक्षा और महात्वाकांक्षा सीमित हो जाती हैं और थोड़े साधनों से हमारी आवश्यकताएं पूरी हो जाती है। इस विधि से ही व्यवहारिक चित्रण शुरू होता है। इस तरह से हम अपने ही जीवन की महिमा से व्यवस्था में जीने का चित्रण कर लेते हैं फलस्वरूप निरंतर सुखपूर्वक जीने का क्रम बना ही रहता है। जब तक शरीर काल है तब तक सुखपूर्वक जीने की सारी व्यवस्था, सारे नियम, विधियाँ, नीतियाँ बन जाती हैं इस प्रकार चित्रण की सार्थकता समझ में आती है। चिंतन की सार्थकता न्याय, धर्म, सत्य का साक्षात्कार करना ही है। चित्रण के अनुसार विश्लेषण होता ही है जो सार्थकता के अर्थ में ही होता है। इसी आधार पर चयन होता है और खुशहाली ही होती है और आस्वादन होता है। आस्वादन मूल्यों का ही होता है। मूल्य है जीवन मूल्य, स्थापित मूल्य, शिष्ट मूल्य, वस्तु मूल्य।

वस्तु मूल्य सतत् एक सा बना रहता है जैसे 1 किलो तिल में जो भी मूल्य (उपयोगिता मूल्य) है, वह हमेशा ही बना रहता है। इसी प्रकार औषधि, धान, गेहूँ, वनस्पति में उनका मूल्य बना ही रहता है। उसे उपयोगिता मूल्य कहते हैं। उसके बाद मनुष्य जो उत्पादन करते हैं उसमें सुन्दरता मूल्य जैसे कार बनाते हैं, रेल बनाते हैं उसमें कला से सुन्दरता जुड़ जाती है। उपयोगिता के साथ सुविधा के अर्थ में सुन्दरता जुड़ती है तो सार्थकता है। इस ढंग से हमारा विश्लेषण का स्वरूप बनता है। हम उपयोगी हो जाते हैं, सार्थक हो जाते हैं, सुन्दर भी हो जाते हैं। **मूल्यों के मुद्दों पर जीवन मूल्य सुख, शांति, संतोष, आनंद के नाम से जाने जाते हैं। जो जीवन की तारतम्यता का ही नाम है। मन और वृत्ति में संगीत होने पर सुख, वृत्ति और चित्त में संगीत होने पर संतोष, चित्त और बुद्धि में संगीत होने पर शक्ति एवं बुद्धि और आत्मा में संगीत होने पर आनंद नाम दिया है। यह कुल मिलाकर जीवन संगीत है।** जब हम अनुभव मूलक पद्धति से जीते हैं तो जीवन संगीत सहज है, स्वाभाविक है। जीवन की सहज अपेक्षा है, जीवन की सहज उपलब्धि, सार्थकता है। आस्वादन में जब मूल्यों का सुख होने लगता है उन मूल्यों में से मानव के साथ प्रेम, विश्वास, स्नेह, कृतज्ञता, वात्सल्य,... ये सब नाम दिया। सार्थकता के साथ संबंध को जब हम पहचानते हैं तो ऐसे मूल्य अपने आप जीवन में से निकलने लगते हैं। इसका उदाहरण जब माँ अपने बच्चे को पहचान लेती है तब ममता अपने आप उमड़ने लगती है। इसके लिए कोई पंचवर्षीय योजना की जरूरत नहीं पड़ती। मूल्य खोजने की या

इकट्ठा करने की जरूरत नहीं है। मूल्य जीवन में भरे हैं वह संबंधों को पहचानने से नियोजित होंगे। संबंधों की पहचान परिवार के अर्थ में है, समाज के अर्थ में है, व्यवस्था के अर्थ में है और सह-अस्तित्व के अर्थ में है यह चारों प्रकार से संबंध का खूँटा बना ही हुआ है। हमको पारंगत होने की जरूरत है। जितने हम पारंगत होते हैं उतने ही विशाल रूप में हम अपने को प्रमाण प्रस्तुत करने में, सार्थकता प्रस्तुत करने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार मूल्यों का आस्वादन करने लगते हैं। जीवन अपने से निष्पन्न मूल्यों का मूल्यांकन करता ही है। वस्तु मूल्य सब जगह फैला है जबकि जीवन मूल्य, मानव मूल्य, स्थापित मूल्य हमारे में (जीवन में) ही है और जीवन अपने से इनका मूल्यांकन करता है कितना सहज कार्य है कितना महिमापूर्ण है। इसके लिए कहीं बाहर से संयंत्र लगाने की जरूरत नहीं है। स्वयं को, स्वयं से, स्वयं के लिए ही परीक्षण करने की बात है। इसकी सबको जरूरत है। इसकी संभावना को सर्वसुलभ बनाने में विधि की बात आती है, नियम, नियंत्रण, संतुलन, न्याय के मुद्दे पर ही शिक्षा संस्कार कार्य संपादित होता है। जब यह विधिवत संपादित होता है जीवन जागृत हो जाता है फलस्वरूप संबंधों को पहचानने में समर्थ हो जाता है। संबंधों को प्रयोजनों के अर्थ में पहचानता है फलस्वरूप आदमी सुखी हो जाता है। इस विधि से हम आस्वादन तक पहुँचे। फिर आता है तुलन। प्रिय, हित, लाभ विधि से तुलन जीव जानवर करते हैं मानव की तुलन विधि है न्याय, धर्म, सत्य। ये ध्रुव बिन्दु हैं इसे पकड़ने की, स्वीकारने की आवश्यकता है। जैसे ही इसे हम स्वीकारते हैं तो हमारा प्रयत्न इस दिशा में होता है। अभी तक शिक्षा, संस्कार, मूल्यांकन जो भी मानव ने किया संवेदनाओं के आधार पर किया और पूरा पड़ा नहीं इसलिए परंपरा बनी नहीं। इसलिए तुलन में से प्रिय, हित, लाभ को न्याय, धर्म, सत्य में विलय करने की आवश्यकता है।

अर्थात् न्यायपूर्ण प्रिय, न्यायपूर्ण हित और न्यायपूर्ण समृद्धि। न्याय दृष्टि से लाभ की जगह समृद्धि आ जाती है। न्यायपूर्वक उत्पादन से हम समृद्धि के मंजिल पर पहुँचते हैं और संग्रह विधि से हम शोषण के मंजिल पर पहुँचते हैं। शोषण से हम स्वयं भी क्षतिग्रस्त होते हैं और संसार को भी क्षतिग्रस्त करते हैं। इसे सटीकता पूर्वक अध्ययन करने की आवश्यकता है, स्वीकारने की आवश्यकता है और इस पर दृढ़ संकल्प को स्थापित करने की आवश्यकता है। इसलिए मानवीय शिक्षा की आवश्यकता है। जिससे हर बच्चा स्वायत्त होगा और छः सद्गुणों से पूर्ण होगा :-

1. स्वयं में विश्वास
2. श्रेष्ठता का सम्मान
3. प्रतिभा में संतुलन
4. व्यक्तित्व में संतुलन
5. व्यवहार में सामाजिक
6. व्यवसाय में स्वावलंबी

ऐसा स्वायत्त मानव, परिवार में अपने आप समाधान समृद्धि को प्रमाणित करेगा फलस्वरूप समाज सूत्र और व्यवस्था सूत्र अपने आप से निष्पन्न होता है। व्यवस्था और समाज का उद्गम स्थली है परिवार। इसको मैंने देखा है यह भली प्रकार से सार्थक होता है इसके बाद आता है व्यवस्था का स्वरूप। समझदारी के बाद व्यवस्था अपने आप उद्गमित होता ही है, बहता ही है।

हर अभिभावक अपने बच्चों को सिखाता ही है उसके बाद शिक्षण संस्थाओं में सिखाते हैं फिर राजगद्दी, धर्मगद्दी अपने ढंग से सिखाते हैं। इस शिक्षा से हम जो भी शिक्षा पाये उससे मानव बने नहीं है। अब विचार इतना ही है, प्रयत्न इतना ही है, प्रमाण इतना ही है कि हम मानव बन सकें। मानव परंपरा बन सकें। इससे फायदा होगा नैसर्गिकता का संतुलन और मानव में न्याय स्थापित हो जायेगा। न्यायपूर्वक व्यवस्था में जीना ही है। यह कौन सा बड़ा दुर्गम कार्य है ? किन्तु मानव को इसकी आवश्यकता महसूस होने की जरूरत है। अभी तक जो भी किये हैं संवेदनाओं के आधार पर किये हैं। जिससे हमारी जरूरत पूरी होने वाली नहीं इसी से धरती बर्बाद हो गयी आदमी तो बर्बाद है ही। इसलिए आबाद होना है तो मानवीयता को पहचानना ही होगा। मानवीयतापूर्ण व्यवस्था में जीना होगा और उसकी निरंतरता की संभावना है। वर्तमान में मुद्दा है कि नैसर्गिकता के साथ अपराध रूक जाये। व्यवस्था का स्वरूप है :-

1. शिक्षा - संस्कार में भागीदारी
2. न्याय - सुरक्षा में भागीदारी
3. उत्पादन - कार्य में भागीदारी
4. विनिमय - कोष में भागीदारी
5. स्वास्थ्य - संयम में भागीदारी

इन पाँचो आयामों में भागीदारी ही व्यवस्था में भागीदारी है। यह जागृति के बाद ऐसी व्यवस्था हर आदमी से उद्गमित होती है, हर आदमी में प्रमाणित होती है। इस प्रकार सार संक्षेप में व्यवस्था की प्रस्तुति पूरी हुई। हर बुद्धिमान इसे स्वीकार सकता है।

कोई भी मुद्दा समझ में आते तक शोध, अनुसंधान कहलाता है। शोध या अनुसंधान की हुई वस्तु जब हम प्रमाणित करते हैं तो उसका शिक्षा संस्कार विधि से लोकव्यापीकरण करना आप पहले से ही जानते हैं। लोकव्यापीकरण करना पहला मुद्दा है। लोकव्यापीकरण करते समय जो शिक्षक होते हैं वे अध्ययवसायी विधि से व्यवहारिक, विधि से तर्कसंगत, विवेक विज्ञान, विधि से पारंगत होंगे। पारंगत होने का मतलब अवधारणा से हैं। अवधारणा के पश्चात हर आदमी अपने ही प्रवृत्ति, अपने ही प्रयास, अपने ही आवश्यकता से प्रमाणिक होना बनता है। प्रमाणिक होने की

आवश्यकता हर आदमी में समाहित है । जब आपको यह महसूस होगा कि प्रमाणित होना नितांत आवश्यक है तो आप कहाँ चुप रहेंगे आप भी प्रमाणित होंगे ही । पहले अनुसंधान विधि से हम पाये हैं, मुझसे जो पायेंगे वह होगी अध्ययवसायी विधि। अध्ययन के पश्चात स्वयं की जिम्मेदारी, बोध के पश्चात शुरू होती है। बोध के उपरांत प्रमाणित करना ही होता है । किसी अवधारणा को बोध के बाद प्रमाणित करने को जब उद्धत होते हैं और संसार में संप्रेषित करने के लिए दौड़ते हैं तो हम अनुभूत होते हैं । उसके बाद ही दूसरों को बोध होना बनता है। इस विधि से हर व्यक्ति अनुभवपूर्वक ही दूसरों को बोध करायेगा । बोलने मात्र से बोध होगा नहीं । इसमें अपवाद भी है कोई आदमी बोलने में निष्णात है, अनुभव किया नहीं रहता है फिर भी किसी को बोध करा सकता है । अभी तक ऐसा ही हुआ है । कुछ बातें हम सुनते हैं फलस्वरूप हमें बोध हो जाता है और हम अनुसंधान में जुट जाते हैं मेरे विधि में भी ऐसे ही हुआ है । किन्तु अधिकांश लोग अध्ययन करेंगे, अनुभव करेंगे और प्रमाणित करेंगे। ऐसा मुझे समझ में आता है ।

प्रश्न - पहले से जो प्रचलित परंपराएं हैं और उनमें फँसा हुआ जो आदमी है उनके बारे में आपका नजरिया क्या है ?

उत्तर - देखिए, आपने दो शब्द प्रयोग किए हैं । **1.** परंपरा **2.** सामान्य आदमी। मैंने परंपरा को जो समझा हूँ उसे चार भागों में प्रस्तुत करता हूँ ।

1. शिक्षा **2.** धर्मगद्दी **3.** राजगद्दी **4.** व्यापार गद्दी । यही परंपरा के कर्णधार हैं। नौका हैं । इसी में प्रकारान्तर से हर व्यक्ति सफर करता है । मैंने जो देखा है परंपराएं पूर्णतः झरझर हो चुकी है । इसलिए इसमें सफर करने वालों को ये कुछ दे नहीं सकती। परन्तु ये चारों परंपराएं इतना ढींग हांकते हैं कि हम सब कुछ आपको तारने के लिए ही शुरू किये हैं, लगाये हैं । किन्तु तरता हुआ एक आदमी भी नहीं दिखा । बल्कि जो तारने वाला है वह भी उसी में डूबा दिखाई देता है । इस आधार पर मैंने कहा कि परंपराएं सब सड़ चुकी हैं बेकार हो चुकी हैं । सार्थकता का स्रोत है तो मनुष्य । मैंने अध्ययन किया है हर मनुष्य कम से कम 51% से अधिक ही सार्थक है । मनुष्य सुधर सकता है । परंपरा सुधरने के स्थान पर दूसरी परंपरा ही स्थापित होगा । परंपरा सुधरने वाला नहीं, सुधरने की उसमें वस्तु नहीं है ।

सार्थक शिक्षा हो, निरर्थक शिक्षा हो, सार्थक राज्य हो निरर्थक राज्य हो; शिक्षा की परंपरा, राज्य की परंपरा तो रहेगी ही । जैसे वर्तमान में राज्य का मूल तत्व है शासन जिसका आधार है संविधान; जिसका मूल है शक्ति केन्द्रित शासन । जिसका मतलब है गलती को गलती से रोको, युद्ध को युद्ध से रोको, अपराध को अपराध से

रोको। इसमें आदमी को क्या होना है रोकने से क्या सुधरेगा । जितना रोकने गये उतना ही अपराध युद्ध बढ़ता गया ये तो सबके सामने हैं । व्यापार का व्यसन तो शोषण से छूटता ही नहीं। धर्म का व्यसन है सबको आश्वासन देना और सम्मान पाना। आश्वासन क्या देना पापी को तारूंगा स्वार्थी को परमार्थी, अज्ञानी को ज्ञानी बनायेंगे। इन आश्वासनों के पूरा होने का कोई प्रमाण तो मिला नहीं । मानव जाति आज तक सोचती रही मैं गलत हूँ परंपराएं सही है । यहाँ से मैं आदमी की आँख खोलना चाहता हूँ परंपराओं की आँखे नहीं । मैं परंपरा से लेन देन नहीं करता हूँ मैं एक आदमी हूँ आदमियों से संबंधित हूँ ।

प्रश्न - एक तरफ तो आप परंपराओं को सड़ा हुआ बताते हैं जबकि आदमी उसी परंपरा में पक कर आया है तो आदमी को भी उस परंपरा में पकने की वजह से सड़ा हुआ होना चाहिए। तब भी आप कहते हैं कि आदमी 50% से अधिक सार्थक है । आपके सार्थक होने का क्या तात्पर्य है।

उत्तर - अभी चार परंपरा की बात कही गयी है उसमें बैठे लोगों में सुधार की जिज्ञासा नहीं है । गद्दी परस्तों को और गद्दी के दस्तावेजों में जिज्ञासा का आधार नहीं है । इस आधार पर वह सड़ चुका है । जबकि हर आदमी के किसी कोने में जिज्ञासा उदय रहता ही है इसी आधार पर मैं कहता हूँ कि आदमी 51% से अधिक ठीक है ।

प्रश्न - आपने विकास की बातें कहीं है ? अभी तक तो हम गाँव में सड़क बन जाना, बिजली लग जाना, आमदनी का बढ़ जाना को विकास कहते हैं। आपके विकास का क्या अर्थ है ?

उत्तर - अभी तक तो विकास इसी को कहते रहे हैं और तो और हर तहसील में जेल बन जाए इसको भी विकास कह रहे हैं। चमका हुआ मकान को विकास कहते हैं। इससे हमारा बहुत बड़ा विरोध नहीं है क्योंकि मनुष्य की सामान्य आकांक्षा महात्वाकांक्षा में जो साधन चाहिए उसके क्रम में ये समाहित होते ही हैं। किन्तु इसको उपयोग करने के क्रम में सामाजिक चेतना की आवश्यकता है । यांत्रिक चेतना में हम कहीं न कहीं गलती और अपराध में चले जायेंगे । मानव को कहीं न कहीं सामाजिक चेतना, व्यवहारिक चेतना, व्यवस्था की चेतना की आवश्यकता है, इस चेतना की भरपाई करने के क्रम में ही यह जीवन विद्या की बात रखी है । इसके बाद शिक्षा का मानवीयकरण एक प्रस्ताव है उसके पश्चात परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था एक प्रस्ताव है । इन तीनों प्रस्तावों के आधार पर एक नजर डालें तो हम जितना कम से कम धरती को घायल करेंगे उतना ज्यादा दिन हम टिकाऊ होते हैं । धरती को ही बर्बाद करके आदमी कहां रहेगा । इसलिए मनुष्य विकसित हो गया इसका आधार है, मनुष्य परिवार में समाधान

और समृद्धि को प्रमाणित कर सके, हर मनुष्य को एक ही जाति का समझ सके, व्यवहार कर सके और मूल्यांकन कर सके अर्थात् सामाजिक हो। व्यवस्था का मतलब पाँचों आयाम में भागीदारी कर सके। इसी को हम मनुष्य का विकास या जागृति कहते हैं। सामाजिक व्यवस्था में व्यवहारिक कहते हैं। अभी तक हमारे विकास के मायने में सुख तो मिला नहीं। चहुँमुखी सुख के लिए समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व चारों पूरा होना चाहिए। इसके बिना सुख मिलेगा नहीं।

प्रश्न - डार्विन ने भी विकास का सिद्धान्त बताया था जो आज भी मान्य है। आपके विकास के सिद्धान्त और डार्विन के विकास में क्या अंतर है।

उत्तर - डार्विन जो भी प्रस्तुत किया शरीर रचना के आधार पर विकास को प्रस्तुत किया। जैसे एक कीड़े की रचना, जोंक की रचना, घोड़े की रचना, गाय की रचना वैसे ही मनुष्य की रचना। इसमें आधार बनाया हड्डियों को। हड्डियां किस प्रकार कितना लंबा, कितना चौड़ा हुआ इसको विकास बताया उन्होंने। मनुष्य के शरीर को ध्रुव मान लिया। मनुष्य के शरीर रचना को आधार बनाया इसके पीछे के शरीर रचनाओं को जोड़ लिए और इसके बाद ये बना है, इसके बाद में ये बना ऐसा वो कहते हैं। डार्विन का शरीर रचना के अर्थ में जो कहना हैं इसमें थोड़ी तकलीफ है, लेकिन मानव के अर्थ में कहना पूरा तकलीफ है। डार्विन के अनुसार बन्दर का क्रमशः रूपान्तरण होते हुए मानव शरीर बना और इसके बीच में भी कई जीव शरीर बने जो बाद में नष्ट हो गये। जबकि हमारे अनुसार किसी न किसी समृद्ध मेधस सम्पन्न जीव के गर्भाशय में, प्राणसूत्र में अनुसंधान का उद्देश्य ऐसे शरीर रचना की परंपरा को स्थापित करना रहा, जिसके माध्यम से जीवन अपनी जागृति को प्रमाणित कर सके। जबकि डार्विन के अनुसार नैसर्गिकता व वातावरण के दबाव में ये अनिश्चित शरीर रचनाएँ घटित हुई। जीवन ज्ञान डार्विन को था नहीं। जीवन को ध्रुव मानकर उन्होंने कुछ कहा नहीं। जीवन और शरीर के संयुक्त रूप में ही मानव होता है। अभी भी विकास को खोजते हैं तो शरीर में, हड्डियों में खोजते हैं और उसके लिए नोबेल प्राइज होते हैं, डिग्रियाँ होती है, नौकरियां होती है उनके विकास का ध्रुव है मानव शरीर। तो उनके अनुसार शरीर को तैयार करके मानव बन जाना था वह हुआ नहीं। मानव, शरीर की हड्डियों के दायरे में व्याख्यायित होती नहीं। इसकी गवाही है डार्विन ने खुद ही लिखा है कि मैं स्वयं शरीर के हड्डियों के दायरे में व्याख्यायित नहीं होता हूँ। वह मानव को व्याख्यायित करने में असमर्थ था। रचना विधि में आप श्रेष्ठता को विकास कहते हैं। जबकि विकास का जो ध्रुव बिन्दु है वह जीवन है। जीवन के बिना शरीर कुछ काम नहीं कर सकता। शरीर को जीवित बनाये रखने वाला जीवन ही है। न केवल जीवन के

आधार पर, न केवल शरीर के आधार पर, 'मानव' जीवन और शरीर के संयुक्त आधार पर है।

परमाणु में जो विकास है वह गठनपूर्णता के अर्थ में है। हरेक परमाणु गठनशील है। हर गठन में एक से अधिक अंश होता है। हर परमाणु में मध्यांश और उसके चारों ओर चक्कर लगाने वाले अंशों की आवश्यकता है। ऐसा अस्तित्व में स्वाभाविक रूप से होना पाया जाता है। ऐसे परमाणुओं में कम से कम दो से लेकर अनेक संख्या में अंश समाये रहते हैं। अनेक प्रजाति के परमाणु हैं, उसमें से एक प्रजाति का परमाणु हैं जीवन परमाणु। अंशों का घटना-बढ़ना जीवन परमाणु में होता नहीं है इसलिए अक्षय शक्ति, अक्षय बल संपन्न होता है इसे ही परमाणु में विकास कहते हैं। अतः जीवन परमाणु को विकसित कह रहे हैं और विकास के बाद जागृति होती है जागृति का प्रमाण है जानना-मानना, पहचानना, निर्वाह करना परमाणु अंशों में होता है। एक परमाणु अंश दूसरे परमाणु अंश को पहचानता है इसलिए निश्चित दूरी में रहकर व्यवस्था को समीकरण किये हैं। व्यवस्था के रूप में कार्य कर रहे हैं। यही भौतिक रासायनिक क्रियाकलाप के रूप में गण्य होता है। रासायनिक क्रियाकलाप की चर्मोत्कर्ष रचना इस धरती पर मानव के शरीर के रूप में प्रमाणित है। शरीर को जीवन मान लिया।

प्रश्न - आप दिल्ली में भारत के चीफ जस्टिस वेंकट चलैय्या जी से मिले थे और सार्वभौम न्याय के बारे में उनसे पूछा था जिसका उत्तर उनके पास नहीं था। भारत में न्याय अलग, पाकिस्तान में न्याय अलग। भारत में ही हिन्दु के लिए अलग न्याय और मुस्लिम के लिए अलग न्याय इस तरह न्याय के बारे में बहुत भ्रम है। आपने कहा न्याय परिवार में प्रमाणित होता है जबकि हम सोचते हैं न्याय अदालत में होता है स्पष्ट करें।

उत्तर - सूत्र रूप में कहा गया है "संबंध, मूल्य, मूल्यांकन, उभयतृप्ति" यही न्याय है। संबंध का मूल्यांकन होना, उभयतृप्ति होना बहुत जरूरी है। मनुष्य के साथ जड़ चैतन्य का संबंध रहता ही है। चाहे आप नकारो चाहे स्वीकारो। जैसे हवा के साथ संबंध। नैसर्गिकता के साथ संबंध न रहे, मानव के साथ संबंध न रहे ऐसा कुछ आप बना नहीं सकते। यह सब मानव परिवार में ही मिलता है। जबकि न्यायालय में फैसला होता है, न्याय नहीं।

प्रश्न - आपका सारा प्रतिपादन ही अस्तित्व मूलक है। आपने कहा प्रकृति सत्ता में है। इस तरह अस्तित्व सर्वस्व है। आप कहते हैं जहाँ कोई इकाई नहीं है वहाँ भी सत्ता है और जहाँ इकाइयाँ ठसाठस भरी है वहाँ भी सत्ता है इसे समझाइये।

उत्तर - व्यापक वस्तु हमको जल्दी समझ में आता है। जिसे खाली स्थान कहें, सत्ता कहें, परमात्मा कहें, ईश्वर कहें। ये क्या चीज हैं। यह मूल वस्तु है, ऊर्जा है। यह ऐसी वस्तु है जिसमें जो भी इकाईयाँ है इससे प्रेरित होने योग्य है। प्रेरित होना कैसे होता है क्या ऊपर से धक्का मारता है ? पहले ऐसा भी कहा गया कि एक शुरू हुआ फिर उसके धक्के से एक-एक करके सब शुरू हो गये। सत्ता में धक्का देने वाली कोई गुण नहीं है। इसमें न तरंग है, न गति, न दबाव है इसलिए धक्का देने वाली बात आती नहीं है। हर वस्तु सत्ता में ऊर्जित है, प्रेरित है यह तो प्रमाण है ही। यह सर्वत्र विद्यमान है ही। हर इकाई व्यापक में डूबे भी हैं, घिरे भी हैं। एक-एक अलग होने का अर्थ ही है कि उनके बीच में सत्ता है। बीच में सत्ता न हो तो अलग-अलग हो ही नहीं सकते। जुड़ता भी इसलिए है कि बीच में सत्ता है। इस प्रकार रचना विरचना का आधार हो गया और ऊर्जा संपन्नता है ही वस्तु में क्योंकि क्रियाशील हैं ही।

इस वस्तु को पुन: दूसरे ढंग से अध्ययन किया। एक तो इकाईयों के रूप में वस्तुएं दिखती है, उनका आयतन और व्यापक रूप में दिखती है उसका आयतन समान है या भिन्न है ये बात सोचा गया। व्यापक वस्तु का कोई आयतन बनता ही नहीं, सीमा बनता ही नहीं।

भौतिकवाद के अनुसार इकाईयाँ जहाँ रहती है वहाँ व्यापक सत्ता नहीं रहती अर्थात् इकाईयाँ व्यापक वस्तु को हटा देती है। अत: इकाईयाँ व्यापक वस्तु से बलवान (भारी) मानी गयी है। जबकि यर्थाथ में देखा सारी वस्तुएँ शून्याकर्षण में है। धरती, सूरज, सौरमंडल, आकाशगंगाएं सभी शून्याकर्षण में है। शून्याकर्षण स्थिति में है- इससे यह स्पष्ट होता है कि सत्ता और इकाई की परस्परता में भार नहीं है। जबकि इकाईयों की परस्परता में ही भार स्पष्ट होता है। जैसा दो परमाणुओं की परस्परता में अणु बनने की प्रवृत्तिवश भार स्पष्ट होता है। इस प्रकार एक से अधिक अणु निश्चित रचना प्रकृतिवश भार स्पष्ट हो गया है। इकाईयों में एक दूसरे के परस्परता में भार को स्पष्ट करने के क्रम से जिसे हम आकर्षण बल कहते हैं ; वास्तविकता में वह विकासक्रम में भागीदार या समग्र व्यवस्था में भागीदारी के अर्थ में है। जैसे कोई पत्थर धरती के वातावरण में कुछ दूर से छोड़ने पर धरती पर ही आता है वह उस पत्थर में निहित विकासोन्मुखी प्रवृत्ति के आधार पर ही है। इस प्रवृत्ति को प्रकाशित करते समय इसे आकर्षण बल नाम दे दिये है। इन दो प्रमाणों से हमें समझ में आता है कि सभी क्रियाशील है। सत्ता पारगामी है इसका साक्ष्य है प्रत्येक इकाई क्रियाशील है, नियंत्रित है, बल संपन्न है। अस्तित्व में इकाई को कहीं भी स्थित होने पर नियंत्रण, क्रियाशीलता और बल सम्पन्नता यथावत बना ही रहता है यह भी सत्ता के पारगामी होने का साक्ष्य है।

प्रश्न :- सत्ता में अनंत इकाईयाँ डूबी, घिरी, भीगीं है ऐसा आपने कहा। तो वे परस्परता में भी अनंत कोणों से प्रकाशित होती है इसको स्पष्ट कर दीजिए।

उत्तर :- इसमें एक सूत्र लिखा है प्रत्येक एक अपने में अनंत कोण सम्पन्न है। अनंत कोण किसी न किसी दिशा में सीधी रेखा में जाता है और उस सीधी रेखा में वो वस्तु प्रतिबिम्बित रहती ही है। कोण जो है कहीं न कहीं जा कर किसी वस्तु पर ही टिकता है। सामने एक वस्तु दिखते तक वो कोण जाता ही रहेगा। तो जहाँ वस्तु मिलता है उसी के ऊपर वस्तु प्रतिबिम्बित रहता है। इस ढंग से वस्तु प्रकाशमान है ये बात का प्रमाण होता है। वस्तु प्रकाशित है इस प्रमाण के साथ हर वस्तु में प्रकाश समाया हुआ है। इस ढंग से प्रत्येक एक में अनंत कोण समायी हुई स्पष्ट होती है वो प्रकाशमानता के अर्थ में ही है। आपका प्रतिबिंब मेरे ऊपर होने के फलस्वरूप आपका प्रकाशमानता हमको समझ में आती है।

प्रश्न :- आज दुनिया व्यापार में रोजगार में यहाँ तक की शिक्षा में भी लाभ कमाने की तरफ दौड़ रही है जिसको आपने लाभोन्माद कहा है। इससे विश्व में जो सामाजिक, आर्थिक, नैसर्गिक समस्यायें उत्पन्न हुई हैं इनका निदान कहां मिलेगा ? यदि लाभ कमाने के चक्कर को दुनिया छोड़ना चाहे तो उसका विकल्प क्या होगा ?

उत्तर :- कोई चीज निष्फल होता है तो सफलता के लिए प्रयास किया जा सकता है। लक्ष्य विहीनता, दिशा विहीनता की स्थिति में जो मानव फंस गया है वह दिशा और लक्ष्य से वंचित तो हो ही गया और उसके कारण उसके योजना और कार्यक्रम में भी निश्चितता नहीं बन पाती। कार्यक्रम की निश्चयता तभी बन पाती है जब लक्ष्य स्थिर हो, दिशा निश्चित हो। इसमें तात्विक रूप में विवेक सम्मत विज्ञान, विज्ञान सम्मत विवेक दोनों का तालमेल एक संगीत के रूप में, एक गति के रूप में हमको मिल जाता है। यही मुख्य बात है। अभी जो लाभोन्माद रूपी अर्थ व्यवस्था का लक्ष्य खोजने जायेंगे तो लक्ष्य केवल संग्रह, सुविधा, भोग, अतिभोग ही है जिसका निश्चयन कभी भी होना ही नहीं है। संग्रह-सुविधा का कोई तृप्ति बिन्दु नहीं है। इस धरती पर रहने वाले 700 करोड़ मनुष्य या कोई भी एक आदमी को संग्रह-सुविधा का तृप्ति बिंदु मिलता नहीं पाये हैं और न पा सकते हैं, न प्रमाणित कर सकते है। यही दिशा विहीनता व लक्ष्य विहीनता का गवाही है। यदि लक्ष्य और दिशा निश्चित होती है तो हमारा कार्यक्रम भी निश्चित ही होता है। लाभोन्माद इसलिए कहा कि इसमें कभी भी तृप्ति नहीं होना है किन्तु, सदा-सदा के लिए हाय-हाय के साथ जुटे रहना है

इसका नाम उन्माद बताया। हाय-हाय के स्वरूप को मैंने देखा है आप भी देख पाते होंगे। हाय-हाय का विस्तार ज्यादा बढ़ता जाता है, कम होता नहीं। तो हाय-हाय के विस्तार को बढ़ाकर हम कौन सा लक्ष्य पा जायेंगे, कहाँ पहुँचकर तृप्ति पायेंगे ? उसके बाद संग्रह-सुविधा हम पा भी जायें तो उसका नियोजन, भोग, बहुभोग, अतिभोग की सीमा में ही हो पाता है और उसका कोई गम्य स्थली है भी नहीं। आज तक भोग से तृप्ति पाना किसी को हुआ नहीं। इन दोनों गवाहियों से हम निष्कर्ष पाये हैं कि ये उन्माद नहीं तो और क्या चीज है। इस प्रकार के उन्माद से 700 करोड़ आदमी उन्मादित होगा इससे छूटाने वाला कौन ? इस प्रश्न को दूर करने के क्रम में ही अनुसंधानपूर्वक सर्वशुभ सुख चाहते हैं, निश्चय चाहते हैं, निरंतरता चाहते हैं। यही सब मिला करके अनुसंधान की वस्तु है। उसके पक्ष में अर्थव्यवस्था भी एक अंश है। तन, मन, धन रूपी अर्थ होता है। तन भी होगा, मन भी होगा, धन भी होगा इन तीनों में से किसी एक को अलग करके अर्थशास्त्र होता नहीं। जबकि अभी तक पढ़ाये हुए अर्थशास्त्र के अनुसार मुद्रा को अर्थ बताया है। मुद्रा दो प्रकार का बताया (1) धातु मुद्रा (2) पत्र मुद्रा। पत्र मुद्रा किसी छापेखाने में छपता ही है। अब छापने का तकनीकी लोकव्यापीकरण हो चुकी है जिसके कारण नकली नोट छपता ही है। तो वर्तमान अर्थशास्त्र जिसकी कीर्ति गायी जाती है वह पत्र मुद्रा, और धातुमुद्रा का विज्ञान है। धातु मुद्रा, पत्र मुद्रा जितनी भी हमारे पास हो उससे जब वांक्षित वस्तु नहीं मिलती तो उस मुद्रा से न तो प्यास बुझती है न पेट भरता है। इसलिए इसको क्या माना जाए। वस्तु का प्रतीक प्राप्त होने से वस्तु की प्राप्ति होती नहीं। इस तरह से मुद्रा की प्राप्ति को हम वस्तु की प्राप्ति मान बैठे हैं इसी का नाम है पागलपन। इसके निराकरण के लिए मैंने जो प्रस्तुत किया है वह तन, मन, धन रूपी अर्थ है। यहां धन का तात्पर्य सामान्य आकांक्षा एवं महत्वाकांक्षा संबंधी वस्तुओं से है। जिसमें आहार, आवास, अलंकार, दूरदर्शन, दूरगमन, दूरश्रवण संबधी आवश्यक वस्तुएं है। इस तरह से हमारे आवश्यकीय वस्तुओं की उपयोगिता होगी संग्रहण नहीं होगा। जैसे अनाज पैदा करते हैं एक वर्ष, दो वर्ष, चार वर्ष रखेंगे बाद में रखने पर तो सड़ ही जायेगा। उसी प्रकार कोई यंत्र उपकरण उपयोग न करने से अपने आप जंग पकड़ कर समाप्त हो जायेगा। इस तरह हम जो भी यंत्रों को तैयार करते हैं वे सब उपयोग के लिए रहता है इनको संग्रह किया भी नहीं जा सकता। संग्रह किया जा सकता है तो भी एक सीमा तक। जितना ज्यादा हम संग्रह करने जायेंगे उतना ही ज्यादा कष्टदायक हो जाता है। इसलिए इनकी उपयोगिता अवश्यसंभावी हो जाता है। उपयोगिता के अन्नतर सद्उपयोगिता और प्रयोजनशीलता के लिए सारे वस्तुओं को नियोजित किया जा सकता है। एक बहुत खूबी की बात मैंने देखा है किसी भी वस्तु के उत्पादन करते

समय मन का होना जरूरी है, मन के बाद तन का होना जरूरी है। मन और तन के संयोग से ही सारे वस्तुओं का उत्पादन होता है। इस ढंग से हम शायद साफ - साफ एक अवधारणा को स्वीकार सकते हैं कि वस्तु का मतलब है धन और इनका अर्थ है सामान्य आकांक्षा और महत्वाकांक्षा संबंधी वस्तु। इस निर्णय से फायदा क्या होगा मानव जाति का मन उत्पादन की ओर लगने की शुरूआत होती है। अभी तक अर्थशास्त्र का डंका बजा-बजाकर हम मानव जाति (पढ़ा हुआ) के उत्पादन प्रकृति को निरर्थक या बिल्कुल उन्मूलन किये ही रहे हैं। बरबाद किए ही रहते हैं। उसके बाद और कोई स्पेशलाइजेशन की बात करते हैं उसमें उत्पादन कार्य प्रवृत्ति और भी बर्बाद होती ही है। बर्बाद होने के बाद वो एक अच्छा आदमी माना जाता है। **ऐसा अच्छा आदमी बनने के पश्चात् बिना उत्पादन किये उनको सब कुछ चाहिए, सबसे ज्यादा उन्हीं को चाहिए।** इस ढंग से उत्पादन नहीं करने की प्रवृति और सम्पूर्ण वस्तुओं को ज्यादा से ज्यादा पाने की इच्छा ये दोनों मिलकरके संसार के साथ द्रोह, विद्रोह, शोषण होना भावी हो जाता है। इस ढंग से आदमी फंसा है। इससे मुक्ति चाहिए। मैं मुक्ति पाया हूं हमकों किसी का शोषण करने की जरूरत नहीं है, न द्रोह, विद्रोह करने की जरूरत है। परिश्रम से हम स्वयं अपनी आवश्यकता से अधिक उत्पादन करते हैं। आप भी कर सकते हैं। आवश्यकता परिवार में ही निश्चित होती है, न कहीं व्यक्ति में न संसार में होती है। परिवार की आवश्यकता से अधिक उत्पादन कर लिया तो हम समृद्धि का अनुभव करते हैं। इस ढंग से आर्वतनशील अर्थ व्यवस्था के अध्ययन की आवश्यकता महसूस हुई। उसको निश्चित रूप में उसकी रचना करके हिन्दी भाषा में संसार को दिया है। वह लोक गम्य हो जाए तो इससे उपकार होगा। इससे कभी भी संसार के किसी भी आदमी, किसी भी परिवार का कहीं भी क्षति होने वाला नहीं है। होगा तो उपकार ही होगा। तो हमें भी शोषण विधि से मुक्त होना है। द्रोह, विद्रोह से मुक्त होना है। जो राजनीति अपने मन से कूटनीति को अपना लिया है उससे कहीं भी अभय, अमन, चैन होने वाला नहीं है। अमन चैन के लिए आर्वतनशील अर्थ व्यवस्था चाहिए। जैसे तन, मन, धन रूपी अर्थ को हम प्राकृतिक ऐश्वर्य पर नियोजित किया तो नियोजन से उत्पादित वस्तु हमारा तन के लिए पोषण, संरक्षण, समाज गति का आधार बनता है। पुन: हमारे इसी समाज गति, पोषण, संरक्षण के आधार पर हम पुन: वस्तु को निर्मित करने योग्य होते हैं, इस तरह से यह आवर्तनशील है। मनुष्य अपनी शक्तियों को विचार शक्ति के साथ शरीर के द्वारा प्राकृतिक ऐश्वर्य पर श्रम नियोजन करता है फलस्वरूप वस्तु निर्मित होती है। वस्तु जितना हमको चाहिए उससे ज्यादा हम निर्मित कर ही सकते हैं, हाय-हाय से मुक्त होने की बात यहाँ आती है। हम पहले से ही तृप्त होना चाह रहे हैं, सुखी होना चाह रहे हैं, इसलिए तृप्ति का उपाय खोजते हैं, उपाय

खोजते-खोजते तृप्ति का उपाय आता है तो अपनाते ही हैं । इसमें छोड़ने वाली कोई बात नहीं है । गलती को सही में बदलने की बात है, अपराध को न्याय में बदलने की बात है, युद्ध को सहअस्तित्व में बदलने की बात है, द्रोह को सौजन्यता में बदलने की बात है, विद्रोह को मैत्री में बदलने की बात आती है हम ये सब को स्वीकारते ही हैं । 700 करोड़ लोगों से पूछ लीजिए द्रोह, विद्रोह, शोषण, युद्ध करना चाहिए की नहीं । सभी कहेंगे नहीं करना चाहिए । मेरे अनुसार कोई भी आदमी इसके लिए तैयार नहीं होता है कि वह हाय-हाय करता रहे । इस आवर्तनशील अर्थ क्रम से मानव जाति हाय-हाय, द्रोह, विद्रोह, शोषण, युद्ध से मुक्त हो सकता है जैसे पागल, स्वस्थ होने की इच्छा रखता है, वैसे ही आदमी में भी लाभोन्मादी अर्थ व्यवस्था में आर्वतनशील अर्थव्यवस्था की आकांक्षा समायी ही है, समायी हुई बात को जागृत करने की बात है । शुभाकांक्षा हर मनुष्य में समायी ही रहती है उसको जगाने की बात है । जगाने के क्रम में आवर्तनशील अर्थ व्यवस्था एक अविभाज्य स्वरूप है, इसका मूल सिद्धांत श्रम नियोजन, श्रम विनिमय सिद्धांत है । इसी में हमारा महात्वाकांक्षा, सामान्यकांक्षा से संबंधित वस्तुओं को निर्मित करना है । आवर्तनशील अर्थव्यवस्था होना ही वर्तमान है, प्रकृति सहज है, नियति सहज, सह-अस्तित्व सहज है । इसलिए इसको हमें पूरा अध्ययन करना चाहिए । जीवन में चरितार्थ करना चाहिए और स्वयं संतुष्ट होकर संतुष्टि के स्रोत बनना चाहिए ।

प्रश्न - आदमी-आदमी के बीच विसंगति और दुर्गति को देखकर कार्ल मार्क्स ने द्वंदात्मक भौतिकवाद की अवधारणा दी । जिसे साम्यवाद नाम दिया । उसमें ऐसा सपना दिखाया कि मनुष्य-मनुष्य के बीच आर्थिक विषमताओं के चलते उसकी निवृति इस साम्यवाद के द्वारा एक राजनैतिक व्यवस्था के अवतरण से संपन्न हो पाएगी । पिछले 70 वर्षों में 2/3 संसार ने साम्यवाद को स्वीकार किया उसके ऊपर गहरे प्रयोग हुए । उसके वजह से करोड़ों आदमी ने बहुत सी यातनाओं को भी उस स्वर्ग के उतरने की आशा के वशीभूत होकर झेला भी लेकिन अभी हमने देखा कि साम्यवाद सारी धरती पर कम से कम प्रयोगात्मक रूप में तो बहुत बुरी तरह से असफल हो गया । विश्व में इस बात को हम लोगों ने सिद्ध कर दिया कि द्वंद जो है वह आदमी के जीने में सुखी होने का आधार नहीं बन सकता । आपके द्वारा हम लोगों ने सुना है व्यवहारात्मक जनवाद; इसके द्वारा आप मानव मानव के बीच खड़ी होने वाली समस्याओं, विसंगतियों को दूर करके समाधान तक पहुँचाया जा सकता है ऐसा आपने बार-बार कहने की कोशिश की है । इसके स्वरूप को स्पष्ट करके समझाइएं ।

उत्तर :- द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की परिकल्पना है कि जो कुछ भी काम चल रहा है खींचतान से चल रहा है । इसको व्यवहारिक रूप में ऐसे देखा जा सकता है ; आपके बल का प्रयोग मेरे साथ होता है मेरे बल का प्रयोग आपके साथ होता है इसलिए दोनों का कार्य चलता है ऐसा सोचा जाता रहा । दोनों का विकास होता है अथवा एक का नाश होता है एवं एक का विकास होता है ऐसा सोचा जाता रहा । इसी आधार पर जो बलवान होता है वही रहने योग्य वस्तु है । बलहीन रहने योग्य वस्तु नहीं है ऐसा द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार माना जाता है । मैंने देखा है अस्तित्व में कोई खींचातानी नहीं है, एक दूसरे का बल संपन्न होने की स्थिति को मैंने देखा है, एक परमाणु अंश भी बल सम्पन्न है, परमाणु भी बल सम्पन्न है, अणु, अणु पिण्ड सभी बल सम्पन्न है । ये एक दूसरे के साथ आदान-प्रदान के रूप में पूरकता विधि को संपन्न करने योग्य हैं, फलस्वरूप विकास है । **अस्तित्व को समझकर के तो ये द्वंद्वात्मक भौतिकवाद लिखा नहीं जा सकता । बुद्धि का सटीक प्रयोग न होने के फल में ही हम ऐसा सब कुछ सोच लेते हैं, हम रहेंगे बाकि सब मिटेगा, हमारा धर्म रहेगा बाकी सभी धर्मों का नाश होगा ।** हम धरती पर रहेंगे, राज करेंगे बाकि सबका नाश हो जायेगा । ऐसा हल्ला, दंगा, नारा प्रतिदिन सुनने को मिलता है ये सब शेखचिल्ली की कथाएं हैं । इनसे कोई निश्चित दिशा, लक्ष्य नहीं पायें हैं और ना ही पायेंगे । दिशा एवं लक्ष्य निश्चित होने पर ही निश्चित कार्यक्रम की बारी आती है, ये मैंने देखा है । इसको मैं अध्ययन करता हूं, जो अध्ययन करना चाहते हैं उसको सटीक अध्ययन कराते हैं । ये हमारा प्रतिदिन का कार्य है, इससे हम आप पर कोई बहुत बड़ा अहसान कर रहे हैं ऐसा भी नहीं है हमारा ये काम है, जैसे हवा का काम, अपना करता ही है, पानी अपना काम करता ही है ऐसा ही मेरा काम है अपना काम करता हूँ । मुझमें दृढ़ विश्वास है अभी तक हम जितने दिन जितने क्षण जितना कार्य कर पाया इसी अवधारणा और इसी उद्देश्य को लेकर किया हूँ । इसमें मुझे हर मोड़, मुद्दा, कार्य व्यवहार, हमारा उत्पादन विनिमय हर जगह में आसानी से समाधान मिलता जाता है, इससे मैं सुखी हूँ हमारा परिवार सुखी है । मुझे ऐसा दिखता है हर परिवार सुखी होना चाहता है, हर मनुष्य सुखी, समझदार होना ही चाहता है कोई आदमी मूर्ख होना नहीं चाहता । इसलिए मूर्ख को भी मूर्ख कहने से वह गाली देगा और कहेगा तुम ही मूर्ख हो । इसलिए अस्वीकृत बात किसी को भी स्वीकृत नहीं होती । मूर्खता खिंचतान, द्वंद, द्रोह-विद्रोह, झगड़ा मुझको स्वीकृत नहीं है । भौतिकवादी कहते हैं द्रोह विद्रोह के बिना कुछ हो ही नहीं सकता । इसके बदले में समाधानात्मक भौतिकवाद के नजरिए में जो कुछ भी अस्तित्व में है बल सम्पन्नता है । बल सम्पन्नता का उपयोग है, सदुपयोग है, प्रयोजनशीलता है यह ही जागृत जीवन में होने वाली स्वाभाविक खूशबु है । विज्ञान

सम्मत यदि विवेक हो पाता है यही मुख्य मुद्दा है। विवेक का मतलब है प्रयोजन, तो प्रयोजन विज्ञान सम्मत हो जाए और विवेक सम्मत विज्ञान हो जाए। **विज्ञान सम्मत विवेक का मतलब है जो मानव प्रयोजनों को विश्लेषण करने योग्य हो जाए। यदि प्रयोजन को हम विश्लेषण कर नहीं पाते तब तक हमारा तर्क अधूरा है।** अभी तक विज्ञानवादी नियम यह कहता है कि हम तर्क संगत भौतिकवाद दिए हैं तो पहले तर्क तो यही आता है कि मैं क्या हूँ ? कौन हूँ ? क्यों हूँ ? और हमारी शांति, अशांति, सुख, दुख कैसे निर्मित होते हैं ? इससे हम पीड़ित क्यों होते हैं ? खुशी क्यों होते हैं ? इसका उत्तर विज्ञान से मिलता नहीं है। तो हम झूठ से कोई चीज शुरू करके सचाई को नहीं पा सकते। समाधान है, अस्तित्व में नियति है, नियतिक्रम है। नियतिक्रम का अर्थ है समाधान की ओर गतियां। इस बात को समझाने के लिए समाधानात्मक भौतिकवाद में प्रयत्न किया है। इसी के आधार पर व्यवहारात्मक जनवाद की बात है। मनुष्य सुखी होना चाहता है और समाधान = सुख, समस्या = दुःख। समाधान चाहिए ही चाहिए, समाधान कैसा होगा ? व्यवहार से होगा। कैसे होगा ? संबंध, मूल्य मूल्यांकन और उभयतृप्ति से समाधानित होंगे। यदि हम संबंधों को पहचानते नहीं है तब भी समस्या से ग्रसित रहते हैं, मूल्यों का निर्वाह करते नहीं संबंधों के अनुरुप तब भी हम समस्या से ग्रसित रहते हैं। ये (संबंध, मूल्य, मूल्यांकन, उभयतृप्ति) चारों होने पर समाधान होता है। इस ढंग से ये चारों एक दूसरे से जुड़ने पर चार समस्याओं के बदले एक समाधान होता है। आदमी समस्याओं से लद गया है। समस्या भर दिखता है आदमी का तो पता ही नहीं है। इसका गवाही है ये राजनैतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक समस्याएं अंत हीन होकर आदमी को ढक दिया है। हर आदमी हर पीढ़ी का समस्या से दब कर कराहते-कराहते अंत हो जाता है। इसके बदले व्यवहारात्मक जनवाद एक ऐसा प्रतिपादन है व्यवहार से मनुष्य समाधानित होता है। व्यवहार हम दो स्थितियों में ही करते हैं एक नैसर्गिक संबंध एवं एक मानव संबंध। नैसर्गिक संबंधों में हम कितने भी व्यवहार करेंगे, नियम, नियंत्रण, संतुलन के अर्थ में करेंगे उससे हम समाधान पाते है नहीं तो समस्या से ग्रसित होते ही है, जैसा अभी ग्रसित हो चुके हैं। हम बिना सुझ-बूझ के कुछ भी प्रौद्योगिकी कर्म किये हैं, धरती का पेट फाड़ा फलस्वरूप कष्टग्रसत हैं ही। इन समस्याओं के कारण मानव इस धरती पर रहेगा, नहीं रहेगा यह प्रश्न चिन्ह बन ही चुका है ? मेरे देखने के अनुसार हर मानव, हर स्थिति, हर गति में समाधानित हो सकता है यही व्यवहारात्मक जनवाद में प्रतिपादन की बात है। इसका सार बिन्दु यही है संबंध, मूल्य, मूल्यांकन, उभयतृप्ति। इसी के चलते सर्वतोमुखी समाधान हमें मिलता है। आर्थिक समाधान मिलता है, आवर्तनशील विधि से। सांस्कृतिक विधि मिलता है मानव संचेतनावादी मनोविज्ञान से। मनुष्य

ज्ञानावस्था की इकाई है वह संज्ञानशीलता से ही आपने को प्रमाणित कर पाता है। संबंध होना वर्तमान में विश्वास होना। व्यवस्था में जीना और सह अस्तित्व को प्रमाणित करना। इस ढंग से व्यवहारात्मक जनवाद सर्वतोमुखी समाधान के अर्थ में प्रतिपादित है।

प्रश्न :- फ्रायड ने एक प्रतिपादन प्रस्तुत किया जिसमें उसने आदमी की तमाम इच्छाओं को एक बिन्दु पर केन्द्रित कर दिया, वह है 'काम (सेक्स)'। आज दुनिया में इस विचारधारा को तमाम लोगों ने अघोषित या घोषित रूप से स्वीकार कर लिया है लेकिन हम देखते हैं कि उससे सारी दुनिया में आदमी के बारे में एक स्पष्ट और समाधानकारी चिंतन और परिणाम नहीं मिला। आपने मानव संचेतनावादी मनोविज्ञान की बात कही है। यह मनोविज्ञान किस तरह से फ्रायड के मनोविज्ञान की जगह लेगा ? इस अवधारणा से कैसे आदमी सुख-शांति को प्राप्त करेगा और समग्र मानव जाति एक सही दिशा को प्राप्त कर सकेगी।

उत्तर :- हर मानव, जीवन और शरीर का संयुक्त रूप है, इस बात को स्पष्ट किया है। जीवन मूल रूप में गठन पूर्ण परमाणु है। परमाणु ही संक्रमित होकर चैतन्य प्रकृति (जीवन) में होता है। तब प्रकृति अपने चैतन्य रूप में वैभवित हो पाती है। गठनपूर्ण परमाणु भारबंधन एवं अणुबंधन से मुक्त रहता है। यही उसका वैभव है। यह सह-अस्तित्व विधि से समृद्ध मेधस-सम्पन्न शरीर को चलाने योग्य हो जाता है। ये दोनों नियतिक्रम में आने वाली विधियाँ है अर्थात् निश्चित रूप में अस्तित्व सहज उपलब्धियाँ है। मनुष्य में और अन्य जीवों में जीवन का और शरीर का संयुक्त रूप में होना होता है। इसको भली प्रकार से देखा गया है। इसका अध्ययन किया जा सकता है। अध्ययन का केन्द्र बिन्दु यही है कि जीवित रहना, न जीवित होना, जीवन-सम्पन्न रहना, और जीवन रहित रहना यह स्पष्ट होता ही है। इसमें जीवन सम्पन्न रहने का जो प्रमाण है ज्ञानेन्द्रियों के व्यापार से समझ में आता है। जीवन शरीर के द्वारा प्रकाशित नहीं हो पाता है अर्थात ज्ञानेन्द्रियों का कार्य-कलाप जब नहीं हो पाता है तब मर गया कहते हैं। मरने का मतलब शरीर को जीवन छोड़ दिया रहता है। शरीर से जब जीवन अलग हो जाता है उस समय से मृतक हो गया ऐसी घोषणा करते हैं। ऐसे शरीर को हम मनुष्य नहीं कहते हैं। 'जीवन' शरीर को चलाते हुए स्थिति में ही हम मानव कहते हैं। ऐसा हर मानव एक विचारशील इकाई है। जीवों में विचारणा का कोई स्थान नहीं है। जीवों का विचार वंशानुषंगीयता के रूप में ही है। मनुष्य वंशानुषंगीय विधि से जीना चाहे तो भी कल्पनाशीलता, कर्मस्वतंत्रता उससे अधिक दूर दूर तक पहुँचा ही रहता है। जब वंशानुषंगीयता के अर्थात् शरीर के सीमा में यदि हमारा विचार

सीमित नहीं हुआ उस स्थिति में हम दूर-दूर तक फैलते ही हैं । इसके कारण हमारा (जीवन का) शरीर सीमा से सीमित रहना नहीं बना । इसके कारण हमारा शरीर सीमा तक विचार कर हम कहीं तृप्त नहीं हुए, समाधानित नहीं हुए। इसका गवाही है न तो हम समाजिक हो पाये और न ही अखण्ड समाज बना । सार्वभौम व्यवस्था को नहीं पाये। कुत्ते की व्यवस्था सार्वभौम है, घोड़े की व्यवस्था सार्वभौम है, हर जीव की व्यवस्था सार्वभौम है, मनुष्य कौन-सा अभागा है जो उसकी व्यवस्था सार्वभौम न बनें ? विचारशीलता हमारा सत्व है आप हम चुप नहीं रह सकते । विचार को चुप करना हमारे अधिकार में नहीं है। अस्तित्व में गधा, घोड़ा, कुत्ता, घास-फूस, पत्थर, लोहा, मणि-मणिक्य सभी का उपयोग है या एक दूसरे के पूरक है । तो मनुष्य होकर के पूरक न हो यह कैसे हो सकता है ? चुप होना याने प्रकृति विरोधी होना, नियति विरोधी होना, विकास विरोधी होना और जागृति विरोधी होना । इस तरह चारों विधी से विरोधी हो गया और विरोध से समस्या पैदा होगा । यही हुआ ।

हमारे देश में जितने लोगों ने समाधि के लिये प्रयत्न किया । इन सारे प्रयोग में जब समाधि की गवाही देने की बारी आती है तो कुछ लोगों ने गोलमोल विधि से गवाही दी भी है । किन्तु मैं समाधि पाया हूँ, समाधि का यही फलन है मैं इसका प्रमाण हूँ ऐसा बोलना बना नहीं । अब उसके बाद अवतारी पुरूष आ गया । अवतार में मनुष्य के जितने भी दस्तावेज है मनुष्य की अंतिम कल्पनाओं के प्रस्तुत करने की कोशिश की । शुभ के लिए ही किया किन्तु सर्वशुभ घटित नहीं हुआ । शुभ का मतलब समाधान, समृद्धि, अभय सहअस्तित्व से प्रमाणित नहीं हुए । अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था प्रमाणित नहीं हुई हर मनुष्य समझदार हो गया इस बात का सत्यापन भी हर मनुष्य करने योग्य हुआ भी नहीं । सबको सुख, शांति, संतोष प्राप्त नहीं हुआ इन चीजों को ध्यान में रखकर हम असफलता की बात कह रहे हैं । इसके विपरीत भौतिकवाद ने जो कहा संग्रह-सुविधा उससे भी बात बना नहीं वो भी असफलता के कगार पर आ गया । सफलता की जो बात आती है वो मानव संचेतना से ही आती है । मानव संचेतना कहां रहता है ? जीवन में रहता है, शरीर में नहीं रहता तो आपने जिस फ्रायड नाम के व्यक्ति को कहा उनको जीवन से लेन-देन है ही नहीं ।

यदि काम वासना से पीड़ित होना ही जीवन मांगता है यही सच्चाई है तो यह पहले से ही कुत्ते, बिल्ली आदि जीवों में हो चुका है फिर मनुष्य के होने की क्या जरूरत थी नियति क्रम में ? ऐसा पूछा जाए तो मनुष्य के होने का कोई लक्ष्य ही नहीं है यही तर्क निकलता है और भिन्नता क्या है उसमें ? मनुष्य का लक्ष्य सुखी होना है । सुखी होने के लिए समाधान चाहिए । बिना समाधान के एक भी आदमी प्रमाणित नहीं करेगा समृद्धि को । समाधान को छोड़कर हम समृद्ध हो जाएं ये होगा नहीं । इसलिए

इस पर अपने को विचार करने की जरूरत है विचार करने पर हमें जो समझ में आया मानव संचेतना की सम्पूर्णता संज्ञानशीलता और सवंदेनशीलता में व्याख्यायित होता है । सज्ञांनशीलता में दो चीज (1) जानना (2) मानना और संवेदनशीलता में दो चीज (1) पहचानना (2) निर्वाह करना होता है । संवेदनशीलता का जितना भी प्रयत्न है प्रवर्तन है वो इन्द्रिय मूलक विधि से होता है । तो इन्द्रिय संवेदना के आधार पर हम जितना भी निर्णय करते हैं वो सामयिक ही होगा । उसमें निरंतरता नहीं होगी । जैसे खाना अच्छा लगता है तो खाते ही रहें, सोना अच्छा लगता है तो सोते ही रहें, ऐसा होगा नहीं । कहने का मतलब है कि कोई इन्द्रिय व्यापार में ऐसी क्रिया नहीं है जिसको हम सतत् एक सा ले जायें, उसमें बारम्बार बदलाव आवश्यक है । परिवर्तन बिना कोई आदमी निरंतर किसी भी इन्द्रिय व्यापार में लिप्त नहीं हो सकता । यह झंझट क्यों आ गया ? पूछा जाये तो मानव को संज्ञानशीलता की ओर प्रवृति होने के लिए । इसलिए व्यवस्था कितना शुभ है कि **संवेदनशीलता की भंगुरता मानव के जागृत होने के लिए घण्टी है,** मानव जागृति के लिए प्रेरणा है, मानव जागृति के लिए दिशा है । मेरे लिए, आपके लिए । ये कब उद्‌गमित हो कब आप इसको सत्यापित करेंगे ये आप ही सोचेगें । इसका दायित्व आपका ही है मेरे लिए सब आ गया । ये सब आ गया तो हमारा रोमांचित होना स्वाभाविक है । ये अपने आप में कितना व्यवस्थित बात है । थोड़ा सा विचारशील होने से, आदमी ये विचार कर ही सकता है और उसी के आधार पर हमने जो कुछ प्रयोग किया उससे स्पष्ट हो गया कि संवेदनशीलता भंगुरशील है और हम निरंतर सुख चाहते हैं । संवेदनाओं में संवेदनाओं के योग में हमें सुख भासता भी है पर सुख की अनुभुति नहीं होती । हमारी प्यास सुख की है जो अनुभव के बिना होती नहीं । अनुभव निरंतर होता ही है । अनुभव कहीं भी भंगुर होता नहीं । इस आधार पर सुख की निरंतरता के लिए ये आवश्यक था । संवेदनाओं में भंगुरता सहज है, यही व्यवस्था है । इस आधार पर हम इसका मूल्यांकन कर पाये । उसके बाद संज्ञानशीलता का मतलब निकल गया; जीवन के सभी क्रियाकलाप अनुभव मूलक विधि से अनुप्राणित होना । मानव संचेतना यही है यहीं जागृत संचेतना है । जिसको मैंने स्वयं अनुभव किया । मैं आपको अध्ययन कराता हूं। ये अध्ययन मूलक विधि से ही आयेगी । इसको बार-बार पठन-पाठन से बोध के लिए सहायक हो सकता है । जीवन समझ में आ गया मानव संचेतना का आधार बन गया । मानवीयता पूर्ण आचरण समझ में आ गया तो परंपरा बन गया । परम्परा के लिए मानव मानवीय व्यवहार को, मानवीयता पूर्ण आचरण को समझे बिना मानव परम्परा होने वाला नहीं है । मानवीय आचरण ही एक ऐसा वस्तु है जो कि सर्व देश-काल में एक सा ही है । मूल्य, चरित्र, नैतिकता का संयुक्त स्वरूप आचरण है । चरित्र को बताया स्वधन, स्वनारी/स्वपुरूष तथा दयापूर्ण कार्य व्यवहार । तन, मन, धन का सदुपयोग व सुरक्षा करना नैतिकता है ।

संबंधों में मूल्यांकन करना और फलस्वरूप उभयतृप्ति होना ही मूल्य है। **जीवन लक्ष्य सुखी होना है, मानव लक्ष्य है समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व।** लक्ष्य के लिए हम हर जगह से नैतिकता को जोड़ते हैं, नैतिकता इसी अर्थों में सार्थक होता है, इसी अर्थ में प्रायोजित हो पाते हैं। मूल्य विधि भी ऐसे ही है और चरित्र विधि में यही है। दुष्चरित्रता में दुखी होते हैं, अनैतिकता में दुखी होते हैं, मूल्यों का अनादर पर दुखी होते हैं। इस तरह से मूल्य, नैतिकता, चरित्र को निर्वाह करना ही मानवीय आचरण है, स्वभाव है। ऐसे आचरण के लिए किस चीज की आवश्यकता थी ? वह अस्तित्व, जीवन एवं मानवीयतापूर्ण आचरण के ज्ञान की आवश्यकता है। ज्ञान क्या है ? जानना, मानना ही ज्ञान है। जानने, मानने के बाद ही तृप्ति बिंदु को तलाशने की बात बनती है। जब जानते नहीं, मानते नहीं तो तृप्ति बिन्दु काहे को तलाशेंगे ? कहां तलाशेंगे ? जैसे हम दिल्ली को जानते, मानते है तो दिल्ली जाने का कार्यक्रम बनाते हैं। अगर हम दिल्ली को जानते, मानते ही नहीं तो जाने का कार्यक्रम कैसे बनायेंगे ? चन्द्रमा को होना मान लिया और चन्द्रमा पर पहुंच भी गये। जानने एवं मानने के तृप्ति बिंदु के लिए बहुत कुछ करते हैं। तो मुख्य रूप से करने की बात यही है अस्तित्व समझ में आने से सह अस्तित्व समझ में आता है ; सह अस्तित्व समझ में आने के फलस्वरुप मानवीयता पूर्ण आचरण आता ही है, निष्पन्न होता ही है। मानव संचेतनावादी मनोविज्ञान में इन सबकी पुष्टि है। एक बात और है जीवन में मैंने 122 क्रियाकलापों को देखा है। इन 122 क्रियाकलापों में से मन में कितना क्रियाकलाप होता है वृत्ति में कितना, बुद्धि में कितना, आत्मा में कितना होता है इसको स्पष्ट करने की कोशिश की है। इसका क्या प्रयोजन ? इससे यह प्रयोजन है एक के बाद एक जो सुनने में आया और समझ में आया तो तृप्ति बिंदु के लिए अनुभव करना बन ही जाता है, उसे दूसरों को बोध कराने की अर्हता आती है। दूसरों को बोध के बाद ही हमारी संपदा का प्रमाण है। हम दूसरों को समझाते हैं तो हमारी समझदारी का प्रमाण है। हम निरोगी है तो दूसरों को निरोगी बनाने में हमारा धन प्रमाणित होता है। हम धनी हैं दूसरों को धनी बना दें तभी हमारे धनी होने का प्रमाण होता है। इस ढंग से सरलता से सामाजिक होने की रीति आती है। अभी तक मनुष्य संवेदनशीलता में ही जीता रहा है इसलिए संग्रह, सुविधा, द्रोह-विद्रोह, शोषण की बात आती रही है। इस ढंग से मानव संचेतनावादी मनोविज्ञान का मूल रूप स्पष्ट होता है वह मूलत: जीवन की क्रिया ही है जानने के लिए मानना हुआ तो जानने के आधार पर प्रवर्तित होते हैं और पहचानने व निर्वाह करने के क्रम में हम अपने आप से न्यायिक हो जाते है, नियंत्रित हो जाते है, संतुलित हो जाते है, सुखी हो जाते है। ये ही कुल मिलाकर मानव संचेतनावादी मनोविज्ञान का प्रयोजन है।

प्रश्न : बाबा जी आज धरती पर हजारों चिकित्सा पद्धतियाँ है, इतने मानवों का श्रम उसमें लगा है इतना धन नियोजित होने के बाद भी मानव जाति का स्वास्थ आज भी बिगड़ा हुआ है। जितना धन लगाया जा रहा है, जितने यंत्रों का अनुसंधान किया जा रहा है उसके बावजूद भी रोगों की संख्या बढ़ती जा रही है। नये-नये रोग पैदा होते जा रहे हैं। पुरानी पद्धति से भी जैसा दावा किया जाता है वैसी उपलब्धि नहीं होती और आधुनिक पद्धतियों से भी जो बात कही जाती है वो प्रमाणित नहीं होती। इस संबध में आप जीवन विद्या से स्वास्थ्य-संयम के आधार पर कैसे स्वास्थ्य को पहचानना चाहेंगे।

उत्तर :- आपने जो बोला यह प्रश्न कम ज्यादा सभी का है। इतना सब प्रयत्न विशेषज्ञता के लिए है। जबकि विशेषज्ञता एक भूत है, पिशाच की तरह है। वो सबको मार देता है। हम विशेषज्ञ है इसलिए हम जो कहते हैं वह सही है ऐसा मान लेने के आधार पर सर्वाधिक अपराध हुआ। उसमें सबसे ज्यादा अपराध उन्हीं के ऊपर हुआ जो रोगी थे। रोगी जब अपनी तकलीफों को सुनाने लगता है तो डाक्टर सुनना नहीं चाहते, वे रोगी को मशीन से सुनना चाहते हैं, मशीन से मनुष्य के दर्द को पहचानना होता नहीं। कुल मिलाकर मनुष्य ही मनुष्य के दर्द को सुन सकता है, पहचान सकता है यह बात यंत्रों से होता नहीं और हम रोग को पहचान नहीं पाते है। पहले जो कुछ लोग आयुर्वेद विधि से, यूनानी विधि से और विधियों से नाड़ी ज्ञान के आधार पर तकलीफों को पहचानने की कोशिश किये वह सराहनीय है। वे नाड़ियों के द्वारा, नाड़ी के गति के द्वारा, दबाव के द्वारा, प्रवाह के द्वारा, खिचांव के द्वारा, तनाव के द्वारा जो रोग को पहचानने की कोशिश की है वह सराहनीय है। शनै: शनै: कालान्तर में, यंत्र को देखकर उसकी (नाड़ी परीक्षण की) कठिनता को स्वीकार करते हुए, आदमी यंत्र की ओर दौड़ लिया। अब सब लोग यंत्र से ही बीमारी और दर्द सुनना चाहते है। यंत्र के आधार पर हम कुछ भी निर्णय लेते हैं रोगी तृप्त होता नहीं और रोग के मूल स्वरूप से चिकित्सक दूर ही रह जाता है। उसके लिए युक्ति, अनुसंधान, शोध करने की बात आती है। उसमें चूक हो ही जाती है क्योंकि अनुकूलता, प्रतिकूलता को जो शोध करना चाहिए वह बीमार के साथ वह चीज होता नहीं है। सारी विशेषज्ञता संग्रह सुविधा में फंस गयी। मरीज को देखकर दवाई लिखने का पचास रू. से लेकर दो हजार रू. तक लेते हैं। मैंने देखा है पचास रू. लेकर जो दवाई लिखता है वही दवाई दो हजार रू. लेकर बड़े शहर का विशेषज्ञ लिखता है। यहाँ हमने इस बात को ध्यान दिलाया कि मनुष्य कैसा पागल हो गया है। ज्यादा पैसे लेने वाला ज्यादा अच्छा चिकित्सक है ऐसा सोचता है, तो उस सीमा से अधिक उसमें अपेक्षा हो नहीं सकती। तीसरी बात, हम चिकित्सा में समग्रता के साथ कभी सोचे नहीं अर्थात चिकित्सक बनने की सोचे ही नहीं, ऐसा प्रयत्न ही नहीं किया। चिकित्सा समग्रता का मतलब पहले स्वास्थ अथवा

निरोग के बलाबल को पहचाना जाए। रोग के बलाबल को कैसा पहचानेंगे ? नाड़ी से पहचानेंगे। नाड़ी में क्या पहचानेंगे ? नाड़ी में ये बतायेंगे नाड़ी की गतियों की पहचान कर रोगों का साक्षात्कार करेंगे और लक्षणों से मिलाकर निश्चय करेंगे कि ये ही रोग है। उसका हम चिकित्सा करते हैं सफल होता है तो हमारा समझना सही माना जाए और यदि असफल होता है तो हमारा समझना गलत है। फिर यह शोध की बात बनता है। अभी की स्थिति में देखने को मिलता है जो जैसा चिकित्सा करता है अपने को सही मानता है। सफल हो या असफल हो हम सही चिकित्सा दिये हैं यही मानता है। इसके कारण हम प्राणसंकट में फंस गए। तो पहले रोग को पहचानना, रोग के बलाबल को पहचानना, औषधियों को पहचानना, औषधियों के बलाबल को पहचानना, उनके योग-संयोग को पहचानना, उनके अनुपान प्रयोग को पहचानना, रोगी की मानसिकता को पहचानाना, उसके पथ्य परहेज को पहचानना, नियम-संयम को पहचानना, फिर उपचार को पहचानना, ये सब एकत्रित होने से समग्र चिकित्सा है। औषधि योग से सम्पूर्ण चिकित्सा हो सकता है। मणि चिकित्सा किरण-विकिरण की ही बात करता है, मंत्र चिकित्सा अपने मानसिक तरंग के ऊपर ज्यादा प्रभाव डालता है। केवल औषधि ही अधिक से अधिक रस क्रियाओं के साथ घुल करके रस परिवर्तन लाने के काम में आता है। रोगों को कैसे दूर करना है शरीर व्यवस्था जितना जानता है उतना कोई डॉक्टर नहीं जानता है। **शरीर को ठीक करने की ट्रेनिंग शरीर व्यवस्था में निहित है।** डॉक्टर तो शरीर के साथ जबरदस्ती करते हैं। चिकित्सक को क्या करना चाहिए ? शरीर व्यवस्था को बलवती बनाने के लिए शरीर अवस्था के अनुकूल रस-द्रव्यों को शरीर को देना चाहिए। यही चिकित्सक की खूबी है, यही महिमा है, यही उनका विवेक-विज्ञान है। ऐसी चिकित्सा से हम पार पा सकते हैं। अत: चिकित्सा को विशेषज्ञता से निकालकर लोकव्यापी बनाना चाहिये।

स्वास्थ्य का मतलब शरीर से होता है। संयम का मतलब मन से होता है। जो न्याय होता है, नियमित होता है, नियम के आधार पर होता है, नियंत्रण के आधार पर होता है, संतुलन के आधार पर होता है। यही संयम है। अत: संतुलनपूर्वक, न्यायपूर्वक होने वाली मानसिकता को संयम कहते हैं। उसकी क्या दवाई है ? उसके लिये क्या किया जाये ? उसके लिए समझदारी दवाई है। नासमझी से असंतुलन, मानसिक असंतुलन, समझदारी से संतुलन बहुत साधारण सूत्र है। समझदारी के अर्थ में संपूर्ण व्यवस्था है, संतुलन है।

हरिहर